प्रकाशक :
अ० वा० सहस्रबुद्धे,
मंत्री, अ० भा० सर्व-सेवा-संघ
वर्धा (म० प्र०)



पाँचवीं बार : १०,०००
अक्तूबर, १९५५
मूल्य : आठ आना



मुद्रक :
ओम् प्रकाश कपूर,
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय,
बनारस ४८२३-१२

कस्तूरबा ट्रस्ट के अध्यापिका वर्ग में 'नयी तालीम' पर मेरे भाषणों के नोट वहाँ की बहनों ने लिखकर मुझे दे दिये थे, परंतु वे बहुत दिनों तक मेरे पास पड़े रहे। 'नयी तालीम' में दिलचस्पी रखनेवाले मित्र तथा कई जगह के ट्रेनिंग कॉलेज के छात्रों ने भी इसे देखा और आग्रह किया कि मैं इसे परिवर्धित करके छपवा दूँ। उनका कहना था कि उन्हें नयी तालीम पर परीक्षा तो देनी पड़ती है, लेकिन उस पर विशेष साहित्य नहीं मिलता। इधर करीब सभी राज्यों में किसी-न-किसी रूप में 'नयी तालीम' का काम चल रहा है। 'नयी तालीम' में दिलचस्पी होने के कारण मैं जब विभिन्न राज्यों का दौरा करता हूँ, तो वहाँ के शिक्षा-केन्द्रों को भी देखने जाता हूँ। मैंने देखा कि 'नयी तालीम' के मौलिक तत्त्व और उद्देश्य के बारे में जानकारी का व्यापक अभाव है। इसलिए मैंने सोचा कि लोगों का कहना ठीक ही है कि इस विषय की एक छोटी-सी पुस्तिका से लोगों को मदद मिलेगी।

मेरे पास जो नोट थे, उनमें 'नयी तालीम' के राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक आधार के बारे में ही विवेचन है। तालीम के बारे में पूर्ण रूप से समझने के लिए जरूरी है कि इसके मनोवैज्ञानिक आधार तथा शिक्षा-पद्धति की रूपरेखा के बारे में भी जानकारी हो। लेकिन काम की अधिकता के कारण इसे जल्द लिखना शक्य नहीं है। अतः मैंने यही ठीक समझा कि जितनी सामग्री मौजूद है, फिलहाल उतना ही छाप दिया जाय और फिर मौका मिले तो बाकी हिस्सों को लिया जाय।

आज दुनिया की परेशानियाँ बढ़ती जा रही हैं। उनका निराकरण राजनीतिक उथल-पुथल या एक वर्ग या दल के हाथ से दूसरे के हाथ में सत्ता हस्तांतरित करने से नहीं होगा। एक जबरदस्त क्रान्ति की आवश्यकता है ताकि जिन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कारणों से संसार में त्राहि-त्राहि मची हुई है, उनमें आमूल परिवर्तन करके एक ऐसी पद्धति कायम की जा सके,

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

जिस समय यह पुस्तिका लिखी गयी थी, उस वक्त नयी तालीम-आन्दोलन का करीब-करीब प्रारम्भ था। देश में उसके प्रति आदर और उत्साह था। विभिन्न राज्य-सरकारों ने इसे अपनाया था। कुछ सरकारों ने तो व्यापक रूप से चलाया भी था। नयी तालीम के तत्त्वों के लिए यह एक शक्ति का इजहार था। लेकिन वर्तमान सरकारों द्वारा तथा जहाँ-तहाँ जैसे-तैसे रचनात्मक कार्यकर्ताओं द्वारा उत्साहपूर्वक नयी तालीम का प्रसार इसके लिए एक कमजोरी ही रही है। बुनियादी शिक्षा के क्रान्तिकारी आधार को समझे बिना उसके व्यापक प्रचार-प्रसार ने उसे गुमराह भी बनाया। नतीजा यह हुआ कि आज जनता में बुनियादी शिक्षा के लिए आदर और विश्वास हट गया। इसका मुख्य कारण है, तालीम के तात्त्विक विचार के बिना ही उसके शरीर को चलाने की चेष्टा चल रही है। नयी तालीम मानव-समाज की आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति का वाहन है। किसी भी देवता का वाहन अपने देवता को बिना पीठ पर बैठाकर आगे नहीं बढ़ सकता, और देवता भी बिना वाहन के आगे कैसे बढ़ेगा ? नयी तालीम को भी अगर बृहद् करना है तो वह क्रान्तिकारी वातावरण में ही आगे बढ़ सकती है, नयी समाज-क्रान्ति के बिना नयी तालीम आगे नहीं बढ़ सकती। अतएव जो नयी तालीम का काम करना चाहते हैं, उन्हें आज के जमाने की माँग के अनुसार अपने विचार तथा आचार में क्रान्तिकारी विचार रखकर समाज में क्रान्ति का वातावरण फैलाना होगा।

जो लोग आज समाज में क्रान्ति की बात सोच रहे हैं, उन्हें भी अपने काम को नयी तालीम की बुनियाद पर संगठित करना होगा। तभी आज जो मानव-समाज भयानक संकट से गुजर रहा है, उसे बाहर निकाल सकते हैं।

यद्यपि यह पुस्तिका काफी पहले लिखी गयी है, तथापि नयी तालीम की वैचारिक भूमिका को समझने के लिए महत्त्व का काम करने में समर्थ है। अतएव जो लोग नयी तालीम की बात सोचते हैं, उन्हें इस पुस्तक में लिखे तात्त्विक आधार पर विचार कर लेना चाहिए, ताकि सही भूमिका पर बुनियादी शिक्षा का काम संगठित हो सके।

सेवापुरी, २५-६-'५४

—धीरेन्द्र मजूमदार

विषय-परिचय

पृष्ठ

पृष्ठ

पृष्ठ

(३)

नयी तालीम पर

गांधीजी के विचार

[नयी तालीम या बुनियादी शिक्षा-संबंधी गांधीजी के कुछ विचार नीचे दिये जा रहे हैं।]

: १ :

'बुद्धि-विकास बनाम बुद्धि-विलास'

त्रावणकोर और मद्रास के भ्रमण में, विद्यार्थियों तथा विद्वानों के सहवास में मुझे ऐसा लगा कि मैं जो नमूने उनमें देख रहा था, वे बुद्धि-विकास के नहीं, किन्तु बुद्धि-विलास के थे। आधुनिक शिक्षा भी हमें बुद्धि-विलास सिखाती है और बुद्धि को उलटे रास्ते ले जाकर उसके विकास को रोकती है। सेगाँव में पड़ा-पड़ा मैं जो अनुभव ले रहा हूँ, वह मेरी इस बात की पूर्ति करता दिखायी देता है। मेरा अवलोकन तो वहाँ अभी चल ही रहा है। इसलिए इस लेख में आये हुए विचार उन अनुभवों के ऊपर आधार नहीं रखते। मेरे ये विचार तो जब मैंने फिनिक्स संस्था की स्थापना की तभी से हैं, यानी सन् १९०४ से।

बुद्धि का सच्चा विकास हाथ, पैर, कान आदि अवयवों के सदुपयोग से ही हो सकता है, अर्थात् शरीर का ज्ञानपूर्वक उपयोग करते हुए बुद्धि का विकास सबसे अच्छा और जल्दी-से-जल्दी होता है। इसमें भी यदि पारमार्थिक वृत्ति का मेल न हो, तो बुद्धि का विकास एकतरफा होता है। पारमार्थिक वृत्ति हृदय यानी आत्मा का क्षेत्र है। अतः यह कहा जा सकता है कि बुद्धि के शुद्ध विकास के लिए आत्मा और शरीर का विकास साथ-साथ तथा एक-सी गति से होना चाहिए। इससे कोई अगर यह कहे कि ये विकास एक के बाद एक हो सकते हैं, तो यह ऊपर की विचार-श्रेणी के अनुसार ठीक नहीं होगा।

हृदय, बुद्धि और शरीर के बीच मेल न होने से जो दुःसह परिणाम आया है वह प्रकट है, तो भी गलत आदत के कारण हम उसे देख नहीं सकते। गाँवों के लोगों का पालन-पोषण पशुओं में होने के कारण, वे मात्र शरीर का उपयोग यंत्र की भाँति किया करते हैं; बुद्धि का उपयोग वे करते ही नहीं और उन्हें करना भी नहीं पड़ता। हृदय की शिक्षा उनमें नहीं के बराबर है, इसलिए उनका जीवन यों ही गुजर रहा है, जो न इस काम का रहा है, न उस काम का। और दूसरी ओर आधुनिक कॉलेजों तक की शिक्षा पर जब नजर डालते हैं, तो वहाँ बुद्धि के विकास के नाम पर बुद्धि के विलास की तालीम दी जाती है। लोग ऐसा समझते हैं कि बुद्धि के विकास के साथ शरीर का कोई मेल नहीं। पर शरीर को कसरत तो चाहिए ही, इसलिए उपयोगरहित कसरतों से उसे निभाने का मिथ्या प्रयोग होता है। पर चारों ओर से मुझे इस तरह के प्रमाण मिलते ही रहते हैं कि स्कूल-कॉलेजों से पास होकर जो विद्यार्थी निकलते हैं, वे मेहनत-मशक्कत के काम में मजदूरों की बराबरी नहीं कर सकते। जरा-सी मेहनत की कि उनका माथा दुखने लगता है और धूप में घूमना पड़े तो चक्कर आने लगते हैं! यह स्थिति स्वाभाविक मानी जाती है। बिना जुते खेत में जैसे घास उग आती है, उसी तरह हृदय की वृत्तियाँ आप ही उगती और कुम्हलाती रहती हैं; और यह स्थिति दयनीय मानी जाने के बदले प्रशंसनीय मानी जाती है।

इसके विपरीत यदि बचपन से बालकों के हृदय की वृत्तियों को ठीक तरह से मोड़ा जाय, उन्हें खेती, चरखा आदि उपयोगी कामों में लगाया जाय और जिस उद्योग द्वारा उनका शरीर खूब कसा जा सके, उस उद्योग की उपयोगिता और उसमें काम आनेवाले औजारों वगैरा की बनावट आदि का ज्ञान उन्हें दिया जाय, तो उनकी बुद्धि का विकास सहज ही होता जाय और नित्य उसकी परीक्षा भी होती जाय। ऐसा करते हुए गणित शास्त्र आदि के जिस ज्ञान की आवश्यकता हो, वह उन्हें दिया जाय और विनोद के लिए साहित्य आदि का ज्ञान भी देते जायँ, तो तीनों वस्तुएँ समतोल हो जायँ और उनका कोई अंग अविकसित न रहे। मनुष्य न केवल बुद्धि है, न केवल शरीर, न केवल हृदय

या आत्मा। तीनों के एक समान विकास में ही मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध होगा। इसमें सच्चा अर्थशास्त्र है। इसके अनुसार यदि तीनों विकास एक साथ हों, तो हमारी उलझी हुई समस्याएँ आसानी से सुलझ जायँ। यह विचार या इस पर अमल तो देश को स्वतंत्रता मिलने के बाद ही होगा, ऐसी मान्यता भ्रमपूर्ण हो सकती है। करोड़ों मनुष्यों को ऐसे-ऐसे कामों में लगाने से ही स्वतंत्रता का दिन हम नजदीक ला सकते हैं।

हरिजनसेवक, १७-४-'३७

: २ :

उद्योग द्वारा शिक्षा

एक नयी पद्धति की आवश्यकता मैं बहुत दिनों से महसूस कर रहा था, क्योंकि मैं जानता था कि आधुनिक शिक्षा-पद्धति निष्फल साबित हुई है; और यह पता मुझे जब मैं दक्षिण अफ्रीका से लौटा, तब जो बहुत से विद्यार्थी मुझसे मिलने आते थे, उनके द्वारा लगा। इसलिए मैंने आश्रम में दस्तकारियों की शिक्षा दाखिल करके इसका आरम्भ किया। निस्सन्देह, दस्तकारियों के शिक्षण पर बहुत ज्यादा जोर दिया गया। नतीजा यह हुआ कि औद्योगिक शिक्षा से बच्चे जल्दी ही दिक आ गये और उन्होंने यह खयाल किया कि हम साहित्यिक शिक्षा से वंचित किये जा रहे हैं। उनकी यह गल्ती थी, क्योंकि वहाँ उन्होंने थोड़ा सा भी जो ज्ञान प्राप्त किया था, वह उससे तो कहीं ज्यादा था, जो कि साधारणतया बच्चे पुराने ढर्रे पर चलनेवाले स्कूलों में प्राप्त करते हैं। पर इस चीज ने मुझे विचार में डाल दिया और मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि औद्योगिक शिक्षा के **साथ** साहित्यिक शिक्षा नहीं, बल्कि औद्योगिक शिक्षा के **द्वारा** साहित्यिक शिक्षा देनी चाहिए। ऐसा करने पर वे औद्योगिक तालीम को एक जलील मशक्कत नहीं समझेंगे और साहित्यिक शिक्षा में एक नया सन्तोष और नयी उपयोगिता आ जायगी। कांग्रेस ने जब पद ग्रहण किया, तब मुझे लगा

कि अपने विचार को राष्ट्र के सामने रखना चाहिए और मुझे खुशी है कि क
जगह इसका स्वागत हुआ है।

हमने यह निश्चय किया कि अंग्रेजी को कोर्स से निकाल देना चाहि
क्योंकि हम जानते थे कि बच्चों का अधिकांश समय अंग्रेजी के शब्दों अ
वाक्यों के रटने में चला जाता है और फिर भी वे जो सीखते हैं, उसे अप
भाषा में जाहिर नहीं कर सकते; और अध्यापक उन्हें जो सिखाता है, उ
ठीक-ठीक समझ नहीं सकते। उलटे, अपनी मातृ-भाषा को महज उपेक्षा
कारण भूल जाते हैं। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि औद्योगिक तालीम के द्वा
शिक्षा दी जाय, तभी इन दोनों बुराइयों से बच सकते हैं।

मुझे शिक्षण देने का आरम्भ करना हो, तो मैं इस तरह करूँगा : जि
दिन बच्चे मेरे पास आयेंगे, सबसे पहले मैं यह देखूँगा कि उनका दिमाग क
तक विकसित हुआ है। वे पढ़ना-लिखना और थोड़ा-बहुत भूगोल जानते
या नहीं। और तब मैं तकली दाखिल करके उनकी जानकारी को बढ़ाने क
कोशिश करूँगा।

आप शायद मुझसे पूछेंगे कि इतनी तमाम दस्तकारियों में से मैंने तक
को ही क्यों चुना ? क्योंकि सर्वप्रथम हमने जिन दस्तकारियों की शोध की थ
उनमें एक तकली की भी दस्तकारी है, और वह युगों से चली आ रही है
प्राचीन काल में हमारा तमाम कपड़ा तकली के सूत का ही बनता था। चरख
तो पीछे आया। फिर बढ़िया-से-बढ़िया अंक का सूत चरखे पर कत भी न
सकता, इसलिए हमें पुनः तकली की ही शरण लेनी पड़ी। तकली ने मनुष्य क
अन्वेषणात्मक बुद्धि को उस ऊँचाई तक पहुँचा दिया, जिस ऊँचाई तक व
पहले कभी नहीं पहुँची थी। इसमें अँगुलियों की कार्य-कुशलता का सर्वश्रे
उपयोग हुआ। पर चूँकि तकली ऐसे कारीगरों तक ही सीमित रही, जिन्हे
कभी शिक्षा पायी ही नहीं, इसलिए उसका उपयोग लुप्त-सा हो गया। अब
हम तकली का उद्धार करके उसे आज फिर उसी गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठि
देखना चाहते हैं, अगर हमें अपने ग्राम जीवन का पुनरुद्धार और पुनर्निर्मा
करना है, तो हमें बच्चों की शिक्षा का श्रीगणेश तकली से ही करना चाहिए।

इसलिए दूसरा पाठ यह चलेगा : लड़कों को मैं अब यह सिखाऊँगा कि हमारे प्रतिदिन के जीवन में तकली को क्या स्थान प्राप्त था। इसके बाद मैं उन्हें उसका थोड़ा सा इतिहास बताऊँगा और यह भी बताऊँगा कि उसका पतन कैसे हुआ। फिर भारतवर्ष के इतिहास के संक्षिप्त क्रम पर आऊँगा—आरम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी से या उससे भी पहले मुसल्मान-काल से करूँगा; उन्हें तफसीलवार यह बताऊँगा कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की तिजारत ने किस तरह हमारे देश का शोषण किया और हमारी इस मुख्य दस्तकारी का दम किस तरह इरादतन घोंटा गया और अन्त में इसका बिलकुल खातमा कर डाला गया। इसके बाद तकली के यन्त्रशास्त्र का, उसकी बनावट का संक्षिप्त कोर्स चलेगा। शुरू-शुरू में मिट्टी की या आटे की छोटी-सी गोली सुखाकर और उसके ठीक मध्य में बाँस की सीख डालकर तकली बनायी गयी होगी। बिहार और बंगाल के कुछ भागों में अब भी इस किस्म की तकली देखने में आती है। इसके बाद मिट्टी की गोली की जगह ईंट की चकत्ती ने ले ली। और अब आज ईंट की चकत्ती की जगह लोहे या फौलाद और पीतल की चकत्ती ने और बाँस की सीख की जगह फौलाद के तार ने ले ली है। यहाँ भी हम काम के काफी प्रश्न सोच सकते हैं—जैसे, चकत्ती और तार का नाप इतना ही क्यों रखा गया है? इससे ज्यादा या कम क्यों नहीं? इसके बाद कपास पर थोड़े से व्याख्यान दिये जायँगे—जैसे कपास खासकर किस तरह की जमीन में पैदा होती है, उसकी कितनी किस्में हैं, किन देशों और हिन्दुस्तान के किन प्रान्तों में वह उगायी जाती है, वगैरा-वगैरा। कपास की खेती के बारे में और उसके लिए कौन-सी जमीन सबसे उपयुक्त हो सकती है, इस विषय में भी कुछ ज्ञान दिया जा सकता है। इससे हम थोड़ा खेती-बाड़ी के बारे में भी जान लेंगे।

आप देखेंगे कि अपने विद्यार्थियों को इस प्रकार का शिक्षण देने के पहले शिक्षक को खुद काफी परिपक्व ज्ञान प्राप्त करना होगा। कताई के तारों की गिनती गजों में निकालना, सूत का नंबर मालूम करना, लच्छियाँ बनाना, बुनकर के लिए उसे तैयार करना, कपड़े की अमुक बनावट में कितने गज सूत लगेगा, आदि बातों द्वारा पूरा प्रारंभिक गणित सिखाया जा सकता है। कपास

उगाने से लेकर बुनाई—कपास चुनना, ओटना, धुनना, कातना, माँड़ी लगाना, बुनना—तक की तमाम क्रियाओं का अपना-अपना सम्बन्धित यंत्र-शास्त्र, इतिहास और गणित है।

इसमें मुख्य कल्पना यह है कि बच्चों को जो भी दस्तकारी सिखायी जाय, उसके द्वारा उन्हें पूरी तरह से शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक शिक्षा दी जाय। उद्योग की तमाम क्रियाओं के द्वारा आपको बच्चों के अन्दर जो भी अच्छी चीजें हैं, उन सबको विकसित करना है। और आप इतिहास, भूगोल और गणित के जो पाठ सिखायेंगे, वे सब उस उद्योग से सम्बन्धित होंगे।

अगर इस प्रकार की शिक्षा बच्चों को दी जाय तो परिणाम यह होगा कि वह शिक्षा स्वावलम्बी हो जायगी। लेकिन सफलता की कसौटी उसका स्वाश्रयी रूप नहीं है, बल्कि यह देखकर सफलता का अन्दाज लगाना होगा कि वैज्ञानिक रीति से उद्योग की शिक्षा के द्वारा मनुष्यत्व का पूर्ण विकास हुआ है या नहीं। सचमुच मैं ऐसे अध्यापक को कभी नहीं रखूँगा, जो चाहे जिन परिस्थितियों में शिक्षा को स्वाश्रयी बना देने का वचन देगा। शिक्षा का स्वावलम्बी बनना इस बात का न्यायसिद्ध परिणाम होगा कि विद्यार्थी ने अपनी प्रत्येक कार्यशक्ति का ठीक-ठीक उपयोग करना सीख लिया है। अगर एक लड़का रोज तीन घंटे काम करके किसी दस्तकारी से निश्चयपूर्वक अपनी जीविका के लायक पैसा कमा लेता है, तो जो अपनी विकसित बुद्धि और आत्मा लगाकर उस काम को करेगा, वह कितना अधिक कमा लेगा ?

हरिजनसेवक, ११-६-'३८

: ३ :

नयी तालीम का नयापन

हमें तो इस अध्यापन-मंदिर को एक ऐसा विद्यालय बना देना है, जिसके जरिये हम आजादी हासिल कर सकें और अपनी तमाम बुराइयों को, जिनमें कि हमारे कौमी झगड़े भी हैं, हमेशा के लिए मिटा सकें। इसके लिए हमें

अपना सारा ध्यान अहिंसा पर केन्द्रित करना होगा। हिटलर और मुसोलिनी के स्कूलों का मूल उद्देश्य हिंसा है। पर हमारा उद्देश्य तो कांग्रेस के अनुसार अहिंसा है। इससे हमें अपनी तमाम समस्याओं को अहिंसा के जरिये ही हल करना है। अपने गणित को, अपने विज्ञान को, अपने इतिहास को हम केवल अहिंसा की दृष्टि से देखेंगे और इन विषयों से सम्बन्धित समस्याएँ अहिंसा के ही रंग में रँगी होंगी। तुर्किस्तान की सुप्रसिद्ध महिला बेगम हालिदा हानूम ने जब जामिया मीलिया इस्लामिया में अपने भाषण दिये थे, तब मैंने कहा था कि इतिहास अभी तक राजाओं का और उनके युद्धों का वर्णन मात्र रहा है, पर भविष्य में जो इतिहास बनेगा, वह मानवता का होगा। वह इतिहास अहिंसा का ही हो सकता है, और है। फिर हमें शहरों के उद्योग-धन्धों को छोड़कर ग्राम-उद्योगों की ओर सारा ध्यान देना होगा। मतलब यह कि अगर हम अपने सात लाख गाँवों को जीवित रखना चाहते हैं, तो हमें गाँवों की दस्तकारियों का पुनरुद्धार करना होगा। और आप यकीन रखें कि अगर इन उद्योगों के जरिये हम शिक्षा दे सकें, तो हम एक क्रान्ति पैदा कर सकते हैं। हमें अपनी पाठ्य-पुस्तकें भी इसी उद्देश्य को सामने रखकर तैयार करनी होंगी।

मैं जो अहिंसा चाहता हूँ, वह सिर्फ अंग्रेजों के साथ के युद्ध तक ही सीमित नहीं है। मैं चाहता हूँ कि वह हमारे तमाम भीतरी सवालों और समस्याओं पर भी लागू हो। सच्ची और सक्रिय अहिंसा तो तभी होगी, जब कि वह हिन्दू और मुसलमानों की जीवित एकता को जन्म दे सकेगी—ऐसी एकता नहीं, जो अपना आधार किसी आपसी भय पर रखती हो; मसलन्, हिटलर और मुसोलिनी के दरमियान हुई संधि या पैक्ट।

हरिजनसेवक, ७-५-'३८

नयी तालीम का नयापन समझना जरूरी है। पुरानी तालीम में जितना अच्छा है, वह नयी तालीम में रहेगा, लेकिन उसमें नयापन काफी होगा। नयी तालीम अगर सचमुच नयी होगी, तो उसका नतीजा (परिणाम) यह होना चाहिए कि हमारे अन्दर जो मायूसी (निराशा) है, उसकी जगह उम्मीद होगी,

कंगालियत की जगह रोटी का सामान तैयार होगा, बेकारी की जगह धन्धा होगा, झगड़ों की जगह एका होगा, और हमारे लड़के-लड़कियाँ लिखना-पढ़ना जानेंगे और साथ-साथ हुनर भी जानेंगे, जिसकी मारफत वे अक्षरज्ञान हासिल करेंगे।

हरिजनसेवक, २८-१-'३९

नयी तालीम के बिना हिन्दुस्तान के करोड़ों बालकों को शिक्षण देना लगभग असंभव है, यह चीज सर्वसामान्य हो गयी, ऐसा कहा जा सकता है। इसलिए ग्रामसेवक को उसका ज्ञान होना ही चाहिए। उसे नयी तालीम का शिक्षक होना चाहिए। इस तालीम के पीछे प्रौढ़-शिक्षण अपने आप चला आयेगा। जहाँ नयी तालीम ने घर कर लिया होगा, वहाँ बच्चे ही माता-पिता के शिक्षक बन जानेवाले हैं। कुछ भी हो, ग्रामसेवक के मन में प्रौढ़-शिक्षण देने की लगन होनी चाहिए।

हरिजनसेवक, १७-८-'४०

: ४ :

नये विश्व-विद्यालय

आजकल देश में नये विश्व-विद्यालय कायम करने की आँधी-सी उठ खड़ी हुई है। गुजरात को गुजराती भाषा के लिए, महाराष्ट्र को मराठी के लिए, कर्नाटक को कन्नड़ के लिए, उड़ीसा को उड़िया के लिए और आसाम को आसामी भाषा के लिए विश्व-विद्यालय चाहिए। मुझे लगता है कि अगर प्रान्तों की इन सम्पन्न भाषाओं और उन्हें बोलनेवाले लोगों को पूरी-पूरी उन्नति करनी हो, तो ऐसे विश्व-विद्यालय होने ही चाहिए।

लेकिन ऐसा मालूम होता है कि इन विचारों पर अमल करने में जरूरत से ज्यादा उतावलापन दिखाया जा रहा है। इनके लिए सबसे पहले भाषावार प्रान्तों की रचना की जानी चाहिए। उनका राज-तंत्र अलग होना चाहिए।

बम्बई प्रान्त में गुजराती, मराठी और कन्नड़ तीन भाषाएँ बोली जाती हैं। मद्रास प्रान्त में तामिल, तेलगु, मलयाली और कन्नड़ चार भाषाएँ बोली जाती हैं। आन्ध्र देश का अपना अलग विश्व-विद्यालय है। उसे कायम हुए थोड़ा समय हो गया। लेकिन उसने काफी उन्नति की है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनामली विश्व-विद्यालय तामिल भाषा के लिए माना जा सकता है। लेकिन मैं नहीं समझता कि उससे तामिल भाषा का पोषण होता है या उसका गौरव बढ़ा है।

नये विश्व-विद्यालय के लिए ठीक-ठीक वातावरण होना चाहिए। उसे जमाने के लिए ऐसे स्कूल और कॉलेज होने चाहिए, जो अपने-अपने प्रान्त की भाषाओं के जरिये तालीम दें। तभी विश्व-विद्यालय का पूरा वातावरण खड़ा हुआ माना जा सकता है। विश्व-विद्यालय चोटी की शिक्षण-संस्था है। लेकिन अगर नींव मजबूत न हो, तो उस पर इमारत की मजबूत चोटी खड़ी करने की आशा नहीं रखी जा सकती।

हालाँकि हम राजनैतिक दृष्टि से आजाद हैं, फिर भी पश्चिम के प्रभाव से अभी आजाद नहीं हुए हैं। जो यह मानते हैं कि पश्चिम में ही सब कुछ है और हर तरह का ज्ञान वहीं से मिल सकता है, उनसे मुझे कुछ नहीं कहना है। न मेरा यही विश्वास है कि पश्चिम से हमें कोई अच्छी चीज मिल ही नहीं सकती। वहाँ क्या अच्छा है और क्या बुरा है, यह समझने लायक प्रगति अभी हमने नहीं की है। अभी यह नहीं कहा जा सकता कि परदेशी हुकूमत से आजाद हो गये हैं, इसलिए हम परदेशी भाषा या परदेशी विचारों के असर से भी आजाद हो गये हैं। क्या यह समझदारी की बात नहीं होगी, क्या देश के प्रति रहने-वाले हमारे फर्ज का यह तकाजा नहीं है कि नये विश्व-विद्यालय कायम करने के पहले हम थोड़ी देर ठहरें और अपनी नयी मिली हुई आजादी के जीवन देने-वाले वातावरण में कुछ सोचें? विश्व-विद्यालय सिर्फ पैसों से या बड़ी-बड़ी इमा-रतों से नहीं बनते। विश्व-विद्यालयों के पीछे जनता की जाग्रत राय का होना सबसे जरूरी है। उनके लिए पढ़ानेवाले योग्य शिक्षकों की जरूरत है। उन्हें कायम करनेवाले लोगों में काफी दूरंदेशी होनी चाहिए।

मेरे विचार से विश्व-विद्यालय कायम करने के लिए पैसे का प्रबन्ध करने का काम लोकशाही हुकूमत का नहीं है। अगर लोग उन्हें कायम करना चाहेंगे, तो वे उनके लिए पैसे भी देंगे। लोगों के पैसे से कायम किये जानेवाले विश्व-विद्यालय देश की शोभा बढ़ायेंगे। जिस देश का राज-काज विदेशियों के हाथ में होता है, वहाँ सब कुछ ऊपर से टपकता है; और इसलिए लोग दिनोंदिन पराधीन या गुलाम बनते जाते हैं। जहाँ जनता की हुकूमत होती है, वहाँ हर चीज नीचे से ऊपर उठती है; और इसलिए वह टिकती है, शोभा पाती है और लोगों की शक्ति बढ़ाती है। जिस तरह अच्छी जमीन में बोया हुआ बीज दस-गुनी उपज देता है, उसी तरह विद्या की उन्नति के लिए खर्च किया हुआ पैसा कई गुना लाभ पहुँचाता है। विदेशी हुकूमत के मातहत कायम किये गये विश्व-विद्यालयों ने इससे उलटा काम किया है। उनका दूसरा कोई नतीजा हो भी नहीं सकता था। इसलिए हिन्दुस्तान जब तक नयी मिली हुई आजादी को अच्छी तरह पचा नहीं लेता, तब तक नये विश्व-विद्यालय कायम करने में मुझे बड़ा डर मालूम होता है।

इसके अलावा, हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े ने ऐसा भयंकर रूप ले लिया है कि आज पहले से यह कहना मुश्किल हो गया है कि हम कहाँ जाकर रुकेंगे। मान लीजिये कि अनहोनी बात हो जाय और हिन्दुस्तान में सिर्फ हिन्दू और सिक्ख ही रहें और पाकिस्तान में सिर्फ मुसलमान, तो हमारी शिक्षा जहरीला रूप ले लेगी। अगर हिन्दू-मुसलमान और दूसरे धर्म के लोग हिन्दुस्तान में भाई-भाई बनकर रहेंगे, तो स्वभावतः हमारी शिक्षा सौम्य और सुन्दर रूप लेगी। या तो हमारे देश में अलग-अलग धर्मों के लोगों के मित्रता और भाई-चारे से रहते आने के कारण जो मिली-जुली सुन्दर सभ्यता पैदा हुई है, उसे हम मजबूत बनायेंगे और ज्यादा अच्छा रूप देंगे, या फिर हम ऐसे समय की खोज करेंगे, जब हिन्दुस्तान में सिर्फ हिन्दू धर्म के लोग ही रहते थे। इतिहास में ऐसा कोई समय शायद न मिल सके। लेकिन ऐसा कोई समय मिला और हम उसके पीछे चले, तो हम कई सदी पीछे हट जायेंगे और दुनिया हमसे नफरत करेगी और हमें कोसेगी। उदाहरण के लिए, अगर हम इतिहास के मुगल-

काल को भूलने की बेकार कोशिश करेंगे, तो हमें दुनिया में सबसे अच्छी दिल्ली की जामा मसजिद को भूल जाना होगा, या अलीगढ़ की मुस्लिम युनिवर्सिटी को भूलना होगा, या दुनिया के सात आश्चर्यों में से एक आगरा के ताज को, या मुगल-काल में बने हुए दिल्ली और आगरा के बड़े-बड़े किलों को भूलना पड़ेगा। तब हमें उसी दृष्टि से अपना इतिहास फिर से लिखना होगा। आज का वातावरण सचमुच ऐसा नहीं है, जिसमें हम इस बारे में किसी सही नतीजे पर पहुँच सकें। अपनी दो महीने की आजादी को अभी हम गढ़ने में लगे हैं। हम नहीं जानते कि आखिर में वह क्या रूप लेगी। जब तक हम ठीक-ठीक यह नहीं जान लेते, तब तक अगर हम मौजूदा विश्व-विद्यालयों में ही भरसक फेरफार करें और आज की शिक्षण-संस्थाओं में आजादी के प्राण फूँकें, तो इतना काफी होगा। इस तरह हमें जो अनुभव होगा, वह नये विश्व-विद्यालय कायम करने में हमारी मदद करेगा।

अब रही बात बुनियादी तालीम की। इस तालीम को शुरू हुए अभी आठ बरस हुए हैं। इसलिए उसके अमल में जो अनुभव हुआ है, वह हमें मैट्रिक के दरजे से आगे नहीं ले जाता। फिर भी, जो लोग इसके प्रयोग में लगे हैं, उनके मन में बुनियादी तालीम का विकास होता ही रहता है। जिस संस्था के पीछे आठ साल का ठोस अनुभव है, उसकी सिफारिशों को कोई भी शिक्षाशास्त्री ठुकरा नहीं सकता। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि यह बुनियादी तालीम देश के वातावरण में से पैदा हुई है और देश की जरूरतों को पूरा कर सकती है। यह वातावरण हिन्दुस्तान के सात लाख गाँवों में और उनमें रहनेवाले करोड़ों लोगों में छाया हुआ है। उनको भुलाकर आप हिन्दुस्तान को भी भूल जायँगे। सच्चा हिन्दुस्तान शहरों में नहीं, बल्कि इन सात लाख गाँवों में बसा है! शहर विदेशी हुकूमत की जरूरतें पूरी करने के लिए खड़े हुए थे। आज भी वे पहले की तरह निभ रहे हैं। क्योंकि विदेशी हुकूमत हिन्दुस्तान से चली गयी, लेकिन उसका असर अभी बना हुआ है—इतनी जल्दी वह जा भी नहीं सकता।

यह लेख मैं नयी दिल्ली में लिख रहा हूँ। यहाँ बैठे-बैठे मैं गाँवों का क्या

खयाल कर सकता हूँ ? जो बात मुझ पर लागू होती है, वही हमारे मंत्रि-मंडल पर भी लागू होती है। फर्क यही है कि उस पर यह विशेष रूप से लागू होती है।

यहाँ हम बुनियादी तालीम के खास-खास सिद्धान्तों पर विचार करें :

१. पूरी शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए। यानी, आखिर में पूँजी को छोड़कर अपना सारा खर्च उसे खुद निकालना चाहिए।

२. इसमें आखिरी दरजे तक हाथ का पूरा-पूरा उपयोग किया जाय। यानी, विद्यार्थी अपने हाथों से कोई न कोई उद्योग-धंधा आखिरी दरजे तक करें।

३. सारी तालीम विद्यार्थियों की प्रान्तीय भाषा द्वारा दी जानी चाहिए।

४. इसमें साम्प्रदायिक धार्मिक शिक्षा के लिए कोई जगह नहीं होगी। लेकिन बुनियादी नैतिक तालीम के लिए काफी गुंजाइश होगी।

५. यह तालीम, फिर उसे बच्चे लें या बड़े, औरत लें या मर्द, विद्यार्थियों के घरों में पहुँचेगी।

६. चूँकि इस तालीम को पानेवाले लाखों-करोड़ों विद्यार्थी अपने आपको सारे हिन्दुस्तान के नागरिक समझेंगे, इसलिए उन्हें एक आन्तरप्रान्तीय भाषा सीखनी होगी। सारे देश की यह एक भाषा नागरी या उर्दू में लिखी जानेवाली हिन्दुस्तानी ही हो सकती है। इसलिए विद्यार्थियों को दोनों लिपियाँ अच्छी तरह सीखनी होंगी।

इस बुनियादी विचार के बिना या इसको ठुकराकर जो नये विश्व-विद्यालय कायम किये जायँगे, वे मेरे विचार से देश को कोई फायदा नहीं पहुँचायेंगे; उल्टे नुकसान ही करेंगे। इसलिए सब शिक्षाशास्त्री इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि नये विश्व-विद्यालय खोलने से पहले थोड़ी देर ठहरना और सोच-विचार करना जरूरी है।

हरिजनसेवक, २-११-'४७

नयी तालीम

रूपरेखा : १ :

बापूजी ने सन् १९२१ से ही रचनात्मक कार्यक्रम को अपनी सारी क्रान्तिकारी योजना का आधार माना था। शुरू में ही जब उन्होंने स्वराज की लड़ाई छेड़ी, तब सबसे पहला 'प्रोग्राम' उन्होंने यही रखा कि ३० जून तक देश के लोग पचीस लाख चरखा चलाने लगें, एक करोड़ सदस्य हो जायँ और एक करोड़ रुपया "तिलक स्वराज-फण्ड" में इकट्ठा कर लें। इस प्रकार आजादी की लड़ाई को देश के सामने रखकर जहाँ वे सत्याग्रह-संग्राम द्वारा स्वराज की ओर बढ़ते रहे, वहाँ इन विभिन्न प्रकार के रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा वे बढ़े हुए कदम को मजबूती के साथ जमाते भी जा रहे थे।

'नयी तालीम' का जन्म

इस प्रकार वे समय-समय पर चरखा, ग्रामोद्योग, हरिजन-सेवा आदि विभिन्न रचनात्मक कार्यक्रम की स्थापना करते गये। उन्हें संगठित रूप देने के लिए वे चरखा संघ, ग्रामोद्योग संघ, हरिजन-सेवक संघ जैसी संस्थाएँ भी कायम करते रहे। अन्त में जब सन् '३७ में कांग्रेस के हाथ में शासन की बागडोर आयी और उन्होंने देखा कि अब मुल्क करीब-करीब स्वराज के दरवाजे पर आ गया है, तब उन्होंने देश के सामने 'नयी तालीम' के रूप में अपनी अन्तिम योजना रखी। उन्होंने कहा था कि यदि मुल्क को सच्चे स्वराज की प्राप्ति और रक्षा करनी है तो 'नयी तालीम' को पूरी तरह से अपनाना होगा। **मुल्क की आजादी** का अर्थ है **जनता की आजादी**। अगर जनता की आजादी सही माने में स्थापित करनी है, तो देश में सात लाख गाँवों के प्रत्येक नर-नारी को ऐसी तालीम देनी होगी, जिससे वे प्रत्यक्ष रूप से अपनी जिम्मेदारी सँभाल सकें; साथ ही वे स्वावलम्बी हो सकें ताकि लोग केन्द्रीय-शासन-यन्त्र का भरोसा किये

बिना स्वतन्त्र रूप से देश की बागडोर सँभाल सकें। इस प्रकार कांग्रेस के प्रथम मन्त्रिमण्डल के साथ ही मुल्क में 'नयी तालीम' का जन्म हुआ।

'नयी तालीम' का उद्देश्य

बापू ने जितनी योजनाएं दीं, उनमें 'नयी तालीम' सबसे आखिरी और सबसे अधिक क्रान्तिकारी योजना है। यह आधुनिक शिक्षितजनों को सबसे अधिक चक्कर में डालनेवाला 'प्रोग्राम' है। आचार्य कृपालानी ने 'नयी तालीम' पर जो पुस्तक लिखी है उसका नाम ही 'अन्तिम नादानी' रखा है, क्योंकि यह पुस्तक अंग्रेजी में थी और अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के लिए बापूजी के रचनात्मक कार्यक्रम की सारी योजना ही "पागलपन" की-सी दिखलाई पड़ती रही है। परन्तु बापू मुल्क को अपने स्वप्न के अनुसार बनाना चाहते थे। किसी मुल्क को बनाने के लिए मुख्य साधन शिक्षा का ही होता है। देश और समाज को एक निश्चित दिशा में संगठित करने के उद्देश्य से ही शिक्षा-पद्धतियाँ बनती हैं।

अतः नयी तालीम के सिद्धान्त और उसकी रूपरेखा समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इस बात को समझें कि इस तालीम, इस शिक्षण-योजना के पीछे बापू का उद्देश्य क्या था और उसके द्वारा वह दुनिया को किस साँचे में ढालना चाहते थे? वस्तुतः संसार में तालीम की, शिक्षा की, जो भी पद्धति निकली उन सबके पीछे निश्चित रूप से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था कायम करने की नीयत और उसके अनुकूल नागरिक तैयार करने का उद्देश्य रहा है। स्वभावतः 'नयी तालीम' के पीछे बापू का भी यही उद्देश्य रहा।

मेकॉले की अंग्रेजी शिक्षा पद्धति और भारत का बाबू समाज

प्राचीन काल में भारत, मध्य एशिया तथा रोम आदि देशों में जब धार्मिक आधार पर समाज-व्यवस्था का संगठन हुआ था, तब उनकी शिक्षा-पद्धति उसीके अनुरूप रही। मध्यकालीन भारत में ब्राह्मणप्रधान वर्णाश्रम के आधार पर समाज-व्यवस्था के लिए ब्रह्मचर्याश्रम की जो पद्धति चली उसमें सारे शिक्षण का तर्ज और तरीका ऐसा था, जिससे आश्रम से निकले हुए शिक्षार्थी समाज में अनुकूल स्थान ले सकें। इसी प्रकार अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भ में मेकॉले साहब ने

जब वर्तमान शिक्षा-पद्धति की शुरुआत की थी, तब उस समय उनको भारत में एक विशेष प्रकार के बाबू रूपी गुलाम-समाज की आवश्यकता थी। उसी नीयत से उन्होंने अपनी शिक्षण-प्रणाली का विधान किया। वे चाहते थे कि भारत में कुछ अंग्रेजी संस्कारवाले लोग हों जो अंग्रेजी शासन के पुर्जे बनकर काम करें, जिनमें किसी प्रकार की मौलिक बुद्धि का विकास न होने पाये और परिणामतः लोगों में निर्माण-कार्य की प्रेरणा, प्रवृत्ति या योग्यता का समावेश न हो सके।

इस प्रकार उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा द्वारा देश में बाबू और साहबों का एक समाज तैयार किया जो हाथ-पैर से न केवल कुछ करने में असमर्थ थे, बल्कि इसमें वे अपना अपमान भी समझते थे।

अंग्रेजी शिक्षा का घातक परिणाम

दूसरी ओर मेकॉले की शिक्षा-पद्धति ने देश के प्राचीन ग्राम-शिक्षालयों को बर्बाद और सारे शिक्षा-संगठन को केन्द्रित करके उसे अपने नियंत्रण में लेकर इतना खर्चीला बना दिया कि देश का गरीब जनवर्ग शिक्षा से कतई वंचित हो गया। इस प्रकार योजनापूर्वक इस देश की आबादी को दो श्रेणी में विभाजित कर दिया गया। पहली : हाथ-पैर से अपंग, अकर्मण्य और निष्क्रिय बैठनेवाली; दूसरी : दिमाग से बिलकुल पंगु, केवल शरीर-श्रम करनेवाली। इसका मतलब यह कि देश में दो प्रकार के जीव रह गये। एक 'कोढ़ी' और दूसरा 'गोरू' (बैल)। कोशिश यह थी कि मुल्क में मनुष्य नाम का कोई प्राणी बाकी न रह जाय, क्योंकि वही मनुष्य मनुष्य कहलाता है जो प्रकृति से मिली हुई बुद्धि और शरीर, दोनों का पूर्णरूपेण संचालन करके उनका सम्यक् विकास करे और समाज-सेवा में दोनों का पूर्ण रूप से इस्तेमाल करता रहे। मूल उद्देश्य यह था कि भारतीय लोग कुछ कर न सकें और अंग्रेजों का साम्राज्यवादी शोषण हमेशा निर्विघ्न रूप से चलता रहे।

शिक्षा-पद्धतियों के उद्देश्य

आज बड़े-बड़े शिक्षाशास्त्री और जननायक जी भरकर आधुनिक शिक्षा-पद्धति की आलोचना करते हैं कि इस पद्धति ने हमारे देशवासियों को नपुंसक बना

दिया है। लेकिन उनको यह समझना चाहिए कि जो लोग भारत पर सदैव कब्जा जमाये रखना चाहते थे, क्या वे कभी ऐसी भूल कर सकते थे कि यहाँ के युवकों को ऐसी शिक्षा दें, जिससे वे सच्चे मर्द बनकर दो दिन में अंग्रेजी साम्राज्य को समाप्त कर दें ?

इस तरह प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में एक निश्चित प्रकार की समाज-व्यवस्था चलाने और कायम रखने के लिए भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा-पद्धतियाँ बनती हैं। अतः अपनी कल्पना के अनुसार नयी समाज-व्यवस्था कायम रखने के लिए गांधीजी के लिए बिलकुल आवश्यक था कि वे भी वैसी ही शिक्षा-पद्धति का आविष्कार करते जिसके द्वारा सहज ही देश और दुनिया में उनकी कल्पना की समाज-क्रान्ति सफल हो सके। अतएव पहले हम यह समझ लें कि गांधीजी भारत में और भारत द्वारा संसार में किस प्रकार की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था कायम रखना चाहते थे, क्योंकि इसके बिना हम 'नयी तालीम' के मौलिक सिद्धांतों को ठीक-ठीक नहीं समझ सकेंगे।



राजनीतिक आधार : २ :

(१)

यह मानव-समाज का राजनीतिक युग है। आज प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव बन गया है कि वह हर चीज को राजनीतिक दृष्टिकोण से देखता है। अतः गांधीजी देश में राजनीतिक व्यवस्था कैसी बनाना चाहते थे, पहले इसी पर विचार करने की आवश्यकता है। साथ-साथ यह भी सोचने की बात है कि गांधीजी भावी समाज की जो कल्पना करते हैं, क्या वह उनकी एक कपोल-कल्पित चीज है और उसका इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है? या उनकी सारी विचारधारा मानवता के इतिहास के विकासक्रम की एक कड़ी मात्र है।

अवतार और महापुरुष

युग-युग में मनुष्य अपने सुख, शान्ति और स्वतन्त्रता के लिए जो प्रयोग और चेष्टाएँ करता आया है, वे ऐतिहासिक परम्परा की निश्चित कड़ियाँ ही होती हैं। वस्तुतः समाज में जो परिकल्पनाएँ होती हैं वे सदैव पुराने प्रयोगों के परिणाम और पिछले अनुभवों के आधार पर ही होती हैं। कोई अवतार या कोई महर्षि ख्वाहमख्वाह मनमानी बात नहीं करता। सच तो यह है कि संसार में जितने भी महर्षि और अवतार हुए हैं, उन्हें समाज की सम्मिलित इच्छा-शक्ति की प्रतिमूर्ति ही समझना चाहिए। अवतार, आसमान में बैठे हुए किसी भगवान् के अवतार नहीं, बल्कि सारे मानव-समाज की उच्चतर आकांक्षाओं के ही अवतार होते हैं। इसलिए वे समाज के अनुभव-समुच्चय से बाहर नहीं जा सकते। वे मानव-समाज के पिछले प्रयोगों से उत्पन्न समस्याओं का समाधान करने के लिए ही संसार में जन्म लेते हैं।

प्राणी की मूल चेष्टा

अतएव गांधीजी समाज में किस प्रकार की समाज-व्यवस्था लाना चाहते थे, इसे समझने के लिए यह भी जानना होगा कि मनुष्य आदिकाल से अपनी

समस्याओं को हल करने के लिए जो प्रयत्न करता रहा है उसका इतिहास कैसा है ? मानव इतिहास के आदिकाल में जब किसी किस्म का सामाजिक संगठन नहीं था तब मनुष्य प्रकृति-माता की गोद में अकेला ही विचरता रहा। उस वक्त अपने को जीवित रखने की चेष्टा करना ही उसका प्रमुख काम था; क्योंकि सृष्टि का व्यापक रूप से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि प्राणिमात्र की मूल प्रवृत्ति है कि वह अपनी स्थिति को कायम रखने की कोशिश करे। यह प्रकृति का एक सामान्य नियम है। हम यह भी देखते हैं कि प्राणी अपनी स्थिति को हूबहू अपनी शकल में ही कायम रखना चाहता है। जब तक जिन्दा रहकर अपनी रक्षा कर सके, वह इसी चेष्टा में लीन रहता है; इसके बाद वह अपनी स्थिति को अपनी सन्तान के रूप में कायम रखने की कोशिश करता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि मानवसृष्टि के प्रारम्भ में अपने को जीवित रखने का सामान जुटाना ही मनुष्य का एक प्रमुख कार्य रहा होगा। विशाल भू-खंडों में स्वच्छन्द रूप से विचरते हुए ही वह इस काम को पूरा करता होगा। बाद में, सम्भवतः, आबादी की वृद्धि के साथ-साथ ऐसी स्थिति आयी होगी, जब एक मनुष्य की चेष्टा ने दूसरे की चेष्टा के साथ टक्कर खायी होगी। इस टक्कर में संघर्ष और फिर हिंसा की वृत्ति का पैदा होना स्वाभाविक था। **परिणाम यह हुआ कि जिन्दगी के साधन जुटाने के सिलसिले में मनुष्य एक-दूसरे पर हिंसा के प्रयोग से स्वयं का नाश करने लगा।** आबादी थोड़ी रही तो नाश का अवसर थोड़ा ही रहा होगा। आबादी के बढ़ने के साथ-साथ इस संघर्ष का अवसर भी जल्दी-जल्दी आने लगा और अन्त में एक दिन यह संघर्ष इतना बढ़ गया कि मनुष्य के लिए अपनी स्थिति कायम रखने की ही समस्या खड़ी हो गयी। जीवन-रक्षा की चेष्टा ने ही उसकी जिन्दगी को खतरे में डाल दिया। तब प्राकृतिक स्वधर्म यानी अपनी स्थिति को कायम रखने की चिन्ता उसके सामने नये ढंग से आ खड़ी हुई। उसने देखा कि संघर्ष और हिंसा को जब तक सीमित न किया जायगा और उन्हें किसी नियन्त्रण में न रखा जायगा, तब तक अपने को कायम रखना भी असम्भव होगा। तभी

से मानव-समाज हिंसा पर विजय पाने के लिए विभिन्न प्रयोगों में लगा हुआ है।

केन्द्रवाद का प्रारम्भ

भागवत की कथा है कि जब लोग "मत्स्य न्याय" से परेशान होकर ब्रह्मा के पास पहुँचे और मानव-समाज के खतरे की बात कही तो ब्रह्मा ने उनकी रक्षा के लिए मनु महाराज को पृथ्वी पर राजा बनाकर भेजा। भागवत की कथा सम्भवतः उपर्युक्त परिस्थिति की परिचायिका है। वस्तुतः मनुष्य ने जब देखा कि आपस के संघर्ष से सारा समाज ही नष्ट हो जाना चाहता है, तो वह उससे बचने का उपाय सोचने लगा और समाज-व्यवस्था का एक नया प्रयोग प्रारम्भ हुआ यानी सहयोग के आधार पर समाज का संगठन किया गया और इसे निश्चित और निर्विघ्न रूप से चलाने के लिए एक मुखिया या सरदार की सृष्टि हुई। लोगों ने सोचा कि अगर वे अपने में से थोड़ी-थोड़ी शक्ति-संग्रह करके उसे एक व्यक्ति में केन्द्रित कर दें, तो वह विशेष शक्तिशाली व्यक्ति बाकी लोगों को काबू में रख सकेगा और कम-से-कम उतने दायरे में मनुष्य-समाज के अन्दर हिंसा सीमित होकर शांति, शृंखला कायम रह सकेगी। इस प्रकार मनुष्य ने शांति, शृङ्खला और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए पहले-पहल राजतंत्र की सृष्टि की। यही था केन्द्रवाद का प्रारम्भ।

शासक-वर्ग और शोषण

साफ है कि यह "केन्द्रीय मानव" यानी राजा आम जनता से कुछ विशेष शक्ति और कुछ बड़ी हैसियत रखता था। अपनी रहन-सहन आदि के कारण वह एक विशेष और भिन्न श्रेणी का मनुष्य गिना जाने लगा। इस प्रकार समाज में दो वर्ग हुए : "केन्द्रवर्ग" (राजवर्ग) और "जन-वर्ग"। कालक्रम में राजा को सन्तति हुई। प्रकृति की मूल प्रवृत्ति यानी अपने ही स्वरूप में अपनी स्थिति को कायम रखने की वृत्ति राजवर्ग की इन सन्तानों में भी होनी स्वाभाविक थी। इधर व्यवस्था या शासनक्षेत्र में अधिक आदमियों को स्थान देने

चुकी थी। प्रजा ने सोचा और महसूस किया कि उसने 'केन्द्रवाद' की सृष्टि करके भूल की। 'केन्द्र' को बनाया गया था सिर्फ व्यवस्था और शासन के लिए, लेकिन आर्थिक क्षेत्र में फैल जाने से वह मनुष्य की जिन्दगी पर ही हावी हो गया; क्योंकि उसने मनुष्य की आवश्यकताओं का अधिकार अपने हाथ में ले लिया था।

प्रजातन्त्र का उदय

राजनीतिक के साथ ही आर्थिक जीवन पर भी कब्जा कर लेने के कारण शासक-वर्ग प्रजा का निर्दलन करने में अधिक समर्थ हो गया था। फिर दास-प्रथा ने जोर पकड़ा जिससे प्रजा की हालत और भी शोचनीय हो गयी। मनुष्य की मौलिक स्वतन्त्रता का भी लोप हो गया। परिणामतः वह इस बात पर विचार करने लगा कि किसी तरह उस 'केन्द्र' को विघटित किया जाय अर्थात् जिस सत्ता को प्रजा ने अपने में बटोरकर एक केन्द्रीय व्यक्ति के हाथ में सौंपा था उस सत्ता को फिर से अपने हाथ में लेने का उसने निश्चय किया। मतलब यह कि मनुष्य ने केन्द्रीय सत्ता के विकेन्द्रीकरण की बात सोची। इस बात को हम राजनीतिक भाषा में लोकतन्त्र की स्थापना कहते हैं। लेकिन केन्द्र को प्रजा ने जो सत्ता दी थी उसका उपभोग करते हुए केन्द्र की कई पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं। इस उपभोग को छोड़ देना सरल और स्वाभाविक न था क्योंकि केन्द्र को भी तो प्रकृति की मूल प्रवृत्ति के अनुसार अपने को अपनी ही शकल में कायम रखना था। अतः केन्द्र ने अपनी रक्षा के लिए सदियों के संचित साधन और शक्तियों का लोकतन्त्र को दबाने में उपयोग किया। फलतः राजा और प्रजा में संघर्ष हुआ और इस संघर्ष ने राजनीतिक क्रान्ति का रूप धारण किया। यह क्रान्ति फ्रांस के राज-विप्लव से शुरू होकर यूरोप भर में फैल गयी। इस क्रान्ति के सामने राजशक्ति ठहर न सकी। एक तरह से प्रजा की सफल क्रान्ति ने प्रजातन्त्र कायम किया। लोकतन्त्र की लहर ने केन्द्रीय राजतन्त्र का विध्वंस किया।

पूँजीपति सत्ताधारी कैसे बने

जीवन के साधन प्राप्त करने की चेष्टा मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है। इस चेष्टा का परिणाम ही उत्पत्ति है। अतः यह स्वाभाविक है कि उत्पत्ति का प्रकार जैसा होगा, समाज का ढाँचा हूबहू वैसा ही होगा। वाष्पीय यन्त्र के आविष्कार से उत्पत्ति के प्रकार में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया। विकेन्द्रित उत्पादन-पद्धति बदलकर केन्द्रित हो गयी। उत्पादन के तरीके केन्द्रित हो जाने के कारण केन्द्रीय राजतन्त्र का विनाश हो जाने के बावजूद भी शासन-पद्धति केन्द्रित ही रह गयी। अन्य दिशाओं में भी समाज का संगठन केन्द्रित ढंग से होने लगा। शासन-यन्त्र के केन्द्रित होने के कारण इसको चलानेवाला, कोई निर्दिष्ट व्यक्ति होना चाहिए, क्योंकि समाज के सभी मनुष्य आकर उसे चला नहीं सकते। अतः लोकतन्त्र ने प्रतिनिधि-व्यवस्था का रूप धारण किया; अर्थात् लोगों की राय से किसी व्यक्ति को प्रतिनिधि बनाकर उसके द्वारा शासन-सूत्र का संचालन होने लगा। इसीका नाम प्रजातन्त्र रखा गया।

सत्ताधारी वर्ग ने जब यन्त्रों पर कब्जा करके समाज की उत्पत्ति पर कब्जा कर लिया, तो उसके लिए यह आसान हो गया कि वह उत्पादित सम्पत्ति की ताकत से लोगों की राय खरीदकर खुद प्रतिनिधि बन जाय। इस तरह उसने शासन-यन्त्र पर भी कब्जा कर लिया। जिसके कब्जे में उत्पादन का यन्त्र था, उसके हाथ में शासन का यन्त्र भी आ गया। कहने का मतलब यह कि शासन-यन्त्र से उत्पादन-यन्त्र, उत्पादन-यन्त्र से शासन-यन्त्र—इसी प्रकार कब्जे बदलते रहे, परंतु प्रजा तो जहाँ थी वहीं पड़ी रही। बल्कि उत्पादन और शासन दोनों के अतिकेन्द्रित हो जाने के कारण पूँजीपति ही सत्ताधारी बन गये और प्रजा इस पूँजीवादी समाज में सामन्त-व्यवस्था से भी अधिक शोषित और पददलित हो गयी।

दास-प्रथा का अन्त और मजदूर-प्रथा का आरम्भ

यह सही है कि सामन्तवादी समाज में श्रमिक गुलाम था। उसे किसी किस्म की स्वतन्त्रता न थी। वह मालिक के कहने पर उठता और बैठता था।

पूँजीवादी समाज में पूँजीपतियों ने स्वतन्त्रता की मीठी-मीठी बातों के साथ दास-प्रथा को मिटाकर श्रमिक को स्वतन्त्र कर दिया, क्योंकि उन्होंने हिसाब लगाकर देखा कि दास-प्रथा का अन्त किये बिना स्वार्थ सिद्ध होना कठिन था। भाप के यन्त्रों द्वारा उत्पादन होने से श्रमिकों की पहली जैसी अधिक आवश्यकता नहीं रह गयी थी। अतः गुलामों को सपरिवार खिलाकर पालने में बड़ा नुकसान था। उन्होंने देखा कि अगर वे गुलामों को आजाद कर दें तो जरूरत पड़ने पर मजदूरों को बुलाकर काम में ले लेने में पड़ता बराबर रहेगा। इस तरह दास-श्रमिकों की अपेक्षा आजाद-मजदूरों से काम लेने में उन्हें अधिक लाभ होने लगा। नतीजा यह हुआ कि बेकार श्रमिक-परिवार भूखों मरने लगे।

कल-कारखानों से उत्पादन होने के कारण बेकारों की संख्या बढ़ती गयी और पूँजीपतियों के लिए उनका मनमाना शोषण आसान हो गया, क्योंकि अगर कोई मजदूर अत्याचार सहने से इनकार करता, तो उसके बदले में असंख्य बेकार और भूखे लोग किसी भी शर्त पर काम करने को तैयार हो जाते थे।

स्वावलम्बी उत्पादन का नाश : लोकतन्त्र का नाश

मजदूर ही नहीं, किसान और दूसरे लोग भी पूँजीवादी व्यवस्था के कारण पहले से अधिक तकलीफ में पड़ गये। सामन्तवादी समाज में सामन्तों की संख्या अधिक होने के कारण साधारण प्रजा उनके आपसी झगड़ों से लाभ उठा सकती थी। उनकी व्यक्तिगत प्रकृति और प्रवृत्तियों में स्वाभाविक विभिन्नता होती थी। इससे भी समय-समय पर प्रजा की दशा में परिवर्तन होने की गुंजाइश रहती थी। सामन्त और प्रजा के बीच कुछ व्यक्तिगत सम्बन्ध भी रहता था। इसलिए समय-समय पर प्रजा को कुछ-न-कुछ राहत मिल जाया करती थी। उत्पत्ति के साधन उत्पादक के हाथ में होने से कारीगर लोग कोठियों के बाहर भी थोड़ा-बहुत अपनी आवश्यकता के अनुसार उत्पादन कर लेते थे। कोठियों में केन्द्रित होते हुए भी उत्पादन बहुत

हद तक विकेन्द्रित था। प्रजा को अपनी जिन्दगी की आवश्यकता के लिए पूर्ण रूप से सामन्तों पर आश्रित नहीं रहना पड़ता था। सामन्त-प्रथा में शासन का आकार-प्रकार केन्द्रित था, पर सामन्तों की संख्या बहुत होने के कारण वह केन्द्र भी विकेन्द्रित दशा में ही चलता था। पूँजीवादी व्यवस्था में केन्द्रीकरण बढ़ता ही गया। धीरे-धीरे धनिकों का गुट बनता गया। छोटी कम्पनियाँ टूट-कर बड़ी कम्पनी में मिलने लगीं। प्रजा और पूँजीपतियों में अन्तर बढ़ता गया। उत्पादन के साधन प्रजा के हाथ से निकलकर केन्द्रित होने लगे और प्रजा का सम्पूर्ण रूप से आर्थिक निःशस्त्रीकरण हो गया। इस तरह स्वतन्त्र और स्वावलम्बी प्रथा को छोड़कर प्रजा अपनी आवश्यकताओं के लिए पूर्ण रूप से इन धनिकों के सहारे हो गयी और उनकी बनायी हुई प्रत्येक शर्त को मानने के लिए मजबूर हो गयी। परन्तु कहा यह जाता था कि जो कुछ होता है प्रजा की राय से ही, प्रजा के प्रतिनिधियों के द्वारा ही होता है। भला ऐसे मजबूर लोगों के "प्रतिनिधि-तंत्र" को लोकतंत्र कहना लोकतन्त्रता का मजाक नहीं तो और क्या है? क्योंकि गरज से दबी हुई जनता स्वतन्त्रतापूर्वक राय ही कैसे दे सकती है?

इस तरह औद्योगिक क्रान्ति ने पूँजीवाद को जन्म दिया और उसने लोक-तन्त्र की ही जान ले ली। प्रजातंत्र की पवित्र कल्पनाएँ वैधानिक पुस्तकों के पन्नों में बँधी रहीं। उनमें असलियत आ ही नहीं सकी। प्रजा की दशा ठीक वैसी ही रही, जैसे किसी किसान को मुकदमे में अपनी डिग्री के बावजूद भी जमीन पर अपना कब्जा नहीं मिलता।

स्वच्छन्द उत्पत्ति का नतीजा

पूँजीवादी व्यवस्था में अन्धाधुन्ध उत्पादन के कारण उपभोग्य सामग्री का अपव्यय होने लगा। मनमाना उत्पादन करते समय कोई यह नहीं देखता कि समाज को कौन-सी सामग्री कितनी और किस किस्म की चाहिए। प्रत्येक उत्पादक तात्कालिक स्थिति के अनुसार जिस सामग्री के उत्पादन में अधिक लाभ देखता है, उसीमें सारा कच्चा माल समाप्त कर देता है। बेकारी बढ़ने से

प्रजा की क्रयशक्ति क्षीण हो गयी और परिणामतः उपभोक्ताओं की संख्या घटती गयी। चीजों की माँग का कोई निश्चय न रह गया, इसीलिए कच्चा माल पैदा करनेवाले किसानों के लिए उत्पादन के अनुपात का कोई सही सिलसिला या सही अनुमान रखना कठिन हो गया। किसी साल किसी माल की अधिक माँग होने पर किसान ने दूसरे साल उस माल की पैदावार बढ़ाकर जब देखा कि उस साल उसके पैदा किये हुए माल की माँग कतई नहीं है, तो उसकी हालत शोचनीय हो जाती है; वह किंकर्तव्यविमूढ़ और हतोत्साह हो जाता है। उसको जिन्दगी से कोई दिलचस्पी नहीं रह जाती; पैदावार बढ़ाने के प्रति भी वह उदासीन हो जाता है। इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था में संसार की हालत ऐसी हो गयी कि जहाँ एक ओर अत्यधिक उत्पत्ति के कारण लोग उसे विनष्ट करते रहे, वहीं दूसरी ओर लाखों और करोड़ों नर-नारी भूख से तड़प-तड़पकर मरते रहे। साफ बात तो यह है कि मानव-समाज ने जिस हिंसा, शोषण, गुलामी तथा भुखमरी से बचने के लिए सामन्त-प्रथा का नाश किया, पूँजीवादी समाज में उसका संकट घटने के बजाय और भी बढ़ गया। मनुष्य की जिन्दगी अधिक खतरे में पड़ गयी। अतः समाज को अपनी स्थिति की रक्षा के लिए फिर से उपाय सोचना पड़ा। इसी सिलसिले में उसने कई प्रयोग किये जिनमें "समष्टिवाद" और "फासिस्टवाद", दो प्रमुख प्रयोग कहे जा सकते हैं।

(२)

कार्ल मार्क्स

सौ वर्ष पहले की बात है। प्रजा पूँजीवाद से त्रस्त और व्याकुल हो उठी थी। परिणामतः उसकी सामूहिक अधीरता ने कार्ल मार्क्स को जन्म दिया। कार्ल मार्क्स बहुत बड़ा पण्डित और अद्भुत विद्वान था। उसने सारी स्थिति का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया।

मार्क्स का दर्शन

सबसे पहले शासन-यन्त्र को विकेन्द्रित करने की पिछली क्रान्ति की विफलता के कारण ढूँढ़ते हुए मार्क्स ने देखा कि प्रजा की सम्पत्ति पूँजीपतियों के कब्जे में होने से वे जनता को निर्दयतापूर्वक पीसते रहे हैं। उसने यह भी देखा कि जब तक जिन्दगी की आवश्यक सामग्री पूँजीपतियों के हाथ में रहेगी तब तक प्रजा को उन्हींके अधीन रहना होगा। अतः उसने यह निष्कर्ष निकाला कि जब तक भोग्य पदार्थों पर समाज का कब्जा नहीं होगा, तब तक समाज उनका सही उपभोग नहीं कर सकता। और तब तक शासन-सत्ता पर भी उसके सही कब्जा होने की सम्भावना नहीं हो सकती। भोग्य पदार्थों पर कब्जा तभी हो सकता था, जब सामग्री के उत्पादन और साधन पर प्रजा की सत्ता कायम हो, क्योंकि इतिहास बतलाता है कि शासकीय या आर्थिक केन्द्र में से किसी एक पर जिस वर्ग का कब्जा हो जाता है वह दूसरे पर भी फैल जाता है। इसलिए आवश्यक यह बताया गया कि शासन-यन्त्र और उत्पादन-यन्त्र, दोनों पर प्रजा की सत्ता कायम हो। इतिहास के आधार पर ऐसा सोचना स्वाभाविक ही था। अतः मार्क्स की बातें लोगों के मन में बैठने लगीं और प्रजा ने फिर क्रान्ति की। पहली क्रान्ति जिस प्रकार शासन-यन्त्र पर कब्जा करने के लिए थी, उसी प्रकार यह दूसरी क्रान्ति उत्पादन-यन्त्र पर कब्जा करने के लिए हुई। कहीं यह सफल हुई, कहीं आंशिक रूप से सफल हुई और कहीं विफल भी हुई। लेकिन जहाँ तक सिद्धान्त और विचारों का सवाल था, बहुत से लोगों ने सोचना शुरू किया कि संसार में स्वतन्त्रता और शान्ति की स्थापना के लिए मार्क्स के रास्ते ही जाना होगा।

फासिस्टवाद का जन्म

दूसरी ओर कुछ लोगों ने ऐसा देखा कि सारी खुराफात की जड़ पूँजी-पतियों के स्वच्छन्द और निर्बन्ध उत्पादन में छिपी हुई है। उन्होंने यह भी

सोचा कि प्रतिनिधि-शासन-प्रणाली के कारण प्रजा में गैरजिम्मेदारी की भावना फैल गयी है और सारे समाज में, सारे संसार में, घोल-चपला उत्पन्न हो गया है क्योंकि प्रजा अपना प्रतिनिधि चुनकर उसके भरोसे अपनी सारी जिम्मेदारियों से निश्चिन्त हो बैठती है। इस निश्चिन्तता के कारण प्रजा की विचार-शक्ति भी पंगु हो जाती है और धीरे-धीरे लोग निश्चेष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार समाज में दो ही वर्ग रह गये—एक तो स्वच्छन्द पूँजीपति और दूसरा प्रतिनिधि पर भरोसा करनेवाला अनुत्तरदायी और निश्चेष्ट प्रजावर्ग (जो स्वयं अपनी बेहोशी के कारण चतुर पूँजीपतियों द्वारा खरीदा जा चुका था)। अतः आवश्यक यह था कि समाज-व्यवस्था को चेतन, कुशल तथा परिस्थिति के अनुकूल बनाने का उपाय हो। प्रजा के निश्चेष्ट होने के कारण प्रजातन्त्र का कोई मूल्य नहीं रहता। इसलिए प्रजातन्त्र में इन लोगों की कोई आस्था भी न थी। अतः उनके विचार से एक जबरदस्त, सुयोग्य और जागरूक दल के द्वारा प्रजा और पूँजीपति, दोनों पर नियन्त्रण रखकर लोगों को सक्रिय और सुव्यवस्थित रखने की आवश्यकता थी। लेकिन यह कोई आसान काम न था। पूँजीपतियों के कब्जे में शक्ति और सम्पत्ति पहले ही से मौजूद थी; वे भला कब स्वीकार कर सकते थे कि उन पर दूसरे दल की हुकूमत हो? उधर प्रजा के दिमाग में वहम बैठा हुआ था कि सारी व्यवस्था उनकी राय से ही चल रही है। इसलिए प्रजा भी यह स्वीकार करने को तैयार न थी कि उसके ऊपर, उसकी राय के बिना, किसी एक दल की हुकूमत हो। बात भी ठीक थी कि ऐसे किसी शक्तिशाली दल की हुकूमत से प्रजा और पूँजीपति, दोनों की स्थिति नीचे गिरती थी (यद्यपि उसमें से एक की स्थिति वास्तविक और दूसरे की काल्पनिक थी)। अतएव जो लोग इस तरह समाज-संचालन के लिए चिन्तित थे, उनके लिए आवश्यक था कि वे एक बलवान् और दृढ़संकल्प दल बनाकर सारे समाज पर जबरदस्ती अपना अधिकार कायम करें ताकि समाज की व्यवस्था तथा उत्पादन और बँटवारे का प्रबन्ध ठीक तरह से हो सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूँजीवादी संकट से उद्धार पाने के लिए समाज में दो विचारधाराएँ चलीं—एक थी रूस (मार्क्स) की समष्टिवादी योजना और दूसरी थी इटली की फासिस्टवादी व्यवस्था।

निराशाजनक स्थिति

ये दोनों प्रयोग करीब एक ही समय चले, लेकिन कुछ दिनों के बाद से ही यह देखने में आ रहा है कि समाज का प्रथम उद्देश्य जो कि हिंसा और गुलामी से बचकर, सुख-चैन से जिन्दा रहना तथा प्रजातंत्र को कायम रखना है, सिद्ध नहीं हो रहा है।

ऐसा क्यों ? इसका भी गहराई से विचार करना आवश्यक है। यद्यपि फासिस्टवादी नेताओं की भावना, मुख्यतः अपने मुल्क का कल्याण करने की थी, उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति ऐसी रही जिससे वे एक निश्चित जाल में फँस गये। उन्होंने अपनी जिन्दगी एक छोटे-से शक्तिशाली एवं क्रान्तिकारी दल के रूप में शुरू की थी। लेकिन चूँकि उनकी दृष्टि जनवाद के खिलाफ थी, उनकी सारी संगठित शक्ति पूँजीवाद के हाथ का खिलौना बन गयी। पूँजीवाद व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण आपसी विशृंखलता तथा जनवाद बनाम समष्टिवाद से भयभीत था। उनके सामने अपने को सुदृढ़ और संगठित रूप से समाज की छाती पर प्रतिष्ठित करना था। वे फासिस्टवादी नेतृत्व तथा उसके संगठन में अपना उद्धार देखने लगे और उन्हें मदद कर सफलता की ओर आगे बढ़ाने का कार्यक्रम उठाया। फासिस्टवादी नेतृत्व भी पूँजीवादी इमदाद के कारण उन्हें अपना सहज हितैषी समझने लगा। इस प्रकार पूँजीवाद का साधन तथा फासिस्टवाद का व्यक्तित्व और संगठन एक साथ मिलकर इतना भयंकर और शक्तिशाली गुट बन गया कि राष्ट्र का कोई भी तबका या दल उसका मुकाबला नहीं कर सका। फलतः इस गुट ने फासिस्टवाद के नाम से राष्ट्र की सारी विरोधी शक्तियों को दबाकर एक तानाशाही तन्त्र की स्थापना कर दी। जनता इसकी वज्रमुष्टि के नीचे दब गयी।

समष्टिवादी सिद्धान्त वैज्ञानिक तथा जनवादी आदर्श के ही आधार पर बना था। लेकिन इसकी स्थापना करने का साधन और ढंग ऐसा था कि इस

सिद्धान्त के अनुसार जो समाज बना, उसमें तानाशाही का ही संगठन हुआ। उत्पत्ति के साधन केन्द्रित होने के कारण श्रमिकों के नाम से एक संगठित दल ने उस पर कब्जा किया और श्रमिकों की ओर से उसे चलाने लगे। ये दल दूसरे सबको दबाकर उसी तरह से एकतन्त्री हो गये जिस तरह से फासिस्टवादी हुए। वस्तुतः हिंसा के आधार पर जबरदस्ती दबाने का यह एक स्वाभाविक नतीजा था।

अतः हिंसा की प्रगति को सीमित करने का कोई लक्षण नहीं दिखायी पड़ रहा है। समष्टिवादी राष्ट्रों में भी फासिस्टवादी राष्ट्रों के जैसा ही अधिनायक-तंत्र का बोलबाला है। अन्तर केवल इतना ही है कि फासिस्टवादी तानाशाही अपने नग्न रूप में सामने आती है और समष्टिवादी तानाशाही लोकतंत्रीय शब्दजाल से ढँकी रहती है।

फासिस्टवाद में प्रजा जानती है कि वह निर्दलित और परतंत्र है इसलिए वहाँ यह भी मुमकिन हो सकता है कि किसी दिन जनता की पीड़ानुभूति तानाशाह को ही चाट जाय, परंतु समष्टिवादी राष्ट्रों में प्रजा अपने ही भ्रम में दबी रहती है—इसी आशा से कि एक दिन प्रकृति की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के कारण यह शासन-सत्ता अपने-आप मुरझाकर मर जायगी और वह स्वतंत्र हो जायगी। 'विश्वास रखो, आखिर मुक्ति मिलेगी'—ऐसा ही एक भ्रम उन्हें सदा के लिए निश्चिन्त बनाये रखता है और अधिनायक-तंत्र को खतम करने की ओर उनकी प्रवृत्ति आसानी से जाती ही नहीं। वस्तुतः यह सोचने की बात है कि समष्टिवाद की धारणा तथा कल्पना इतने ऊँचे आदर्श के आधार पर होते हुए भी प्रजा उसके नीचे फँस कैसे गयी। अतः इसके बारे में थोड़ी जानकारी कर लेनी चाहिए।

समष्टिवादी समस्या : व्यक्तिगत सम्पत्ति का नाश

समष्टिवादी ने देखा कि समाज में सारी हिंसा और सारे संघर्ष की जड़ है मनुष्य में स्वार्थ का आधिक्य। वस्तुतः हिंसा ही समाज को नष्ट करने का एकमात्र कारण है और मानव-समाज के प्रारंभ से ही यह देखा जा रहा है

कि हिंसा के जन्मदाता हैं स्वार्थ और संघर्ष। अतः समष्टिवादी ने हिंसा को निर्मूल करने की बात सोची। फिर उसने यह देखा कि सम्पत्ति से ही स्वार्थ पैदा होता है, क्योंकि सारा स्वार्थ सम्पत्ति में ही निहित रहता है। अतः व्यक्ति को सम्पत्ति-हीन बनाया जा सके तो स्वार्थ के लिए कोई गुंजाइश ही न रह जायगी। इसीलिए समष्टिवादी व्यवस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति को कोई स्थान नहीं दिया गया है।

वर्गविहीन समाज की आवश्यकता

हिंसा का दूसरा रूप है, शोषण। उन्होंने देखा कि समाज कई वर्गों में बँटा हुआ है और यह शोषण तब तक जारी रहेगा, जब तक भिन्न-भिन्न वर्गों का अस्तित्व बना रहेगा। जब तक समाज पूँजीवर्ग, मध्यमवर्ग, श्रमिकवर्ग आदि विभिन्न श्रेणियों में बँटा रहेगा तब तक एक के शोषण से ही दूसरे का स्वार्थ सिद्ध होगा। अतः उनकी दृष्टि में यह आवश्यक था कि समाज में किसी किस्म का वर्ग-भेद न रहे। इस प्रकार समष्टिवादी सिद्धान्त के अनुसार दुनिया में वर्गहीन समाज का संगटन अत्यावश्यक है।

शासनहीन समाज की आवश्यकता

उन्होंने इतिहास के पन्नों से यह भी समझा कि मनुष्य की आपसी हिंसा को सीमित करने की चेष्टा में ही समाज में शासन-व्यवस्था का आविष्कार हुआ था। मतलब यह कि व्यक्तियों की छोटी हिंसा का दमन करने के लिए एक बड़ी हिंसा के रूप में शासन की आवश्यकता पड़ी। **शासन का अर्थ है : जबरदस्ती यानी स्वातंत्र्य-विहीनता**; क्योंकि मनुष्य पर जिस हद तक शासन रहेगा उसी हद तक वह उस शासन के अधीन होगा और उसी हद तक उसमें स्वतन्त्रता की कमी होगी। अतः समष्टिवादी समाज के अनुसार संसार को हिंसा और शोषण से मुक्त करने के लिए आवश्यक है कि समाज शासन-हीन हो।

समष्टिवादी का साध्य

इस प्रकार हम देखते हैं कि समष्टिवादी कल्पना के अनुसार दुनिया को हिंसा-रहित, शोषण-रहित और स्वतन्त्र बनाने के लिए यह आवश्यक है कि समाज शासन-हीन और वर्ग-हीन व्यवस्था के आधार पर संगठित हो। उनकी कल्पना के अनुसार न कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति रहनी चाहिए और न समाज में किसी प्रकार से वर्ग-विषमता या शासन का स्थान होना चाहिए। वस्तुतः इस प्रकार का समाज बन जाने पर ही प्रजा की चिरकाल की चेष्टा सार्थक होगी। कार्ल मार्क्स ने भावी समाज की इस प्रस्तावना से मानवता का बड़ा उपकार किया। उन्होंने केन्द्रसत्ता के विकट जाल से प्रजा को छुड़ाने के लिए एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया, जिसका एक निश्चित स्वरूप और जिसमें भविष्य की एक निश्चित धारणा थी। इस प्रकार हम मार्क्सवादी यानी समष्टिवादी साध्य का एक स्पष्ट चित्र प्राप्त करते हैं।

समष्टिवादी नीति-रीति

लेकिन प्रश्न यह है कि इस प्रकार की व्यवस्था पर पहुँचने का तरीका क्या हो? कार्ल मार्क्स ने बताया है कि सम्पत्ति अर्थात् उत्पादन के साधनों पर प्रजा की सत्ता कायम करके श्रमिक यानी उत्पादक के हाथों में सारी सत्ता दे देने से ऐसे समाज का संगठन हो सकेगा। अतः मार्क्स के अनुयायी उत्पादन के साधनों पर से औरों का कब्जा हटाकर उस पर श्रमिक का कब्जा कराने की चेष्टा में लग गये।

अब तक समाज में पूँजीपति और किसान, दोनों संपत्तिवाले थे। श्रमिकों की ही एक ऐसी श्रेणी थी जो शुद्ध श्रम से अपनी जीविका उपार्जन करती थी और जिसके पास कोई संपत्ति न थी। मार्क्सवादियों के अनुसार व्यक्तिगत-सम्पत्तिहीन, शासनहीन तथा वर्गहीन समाज की सही स्थापना ही श्रमिक-वर्ग कर सकता था और ऐसे समाज तक पहुँचने की जिम्मेदारी और जमानत भी वही श्रेणी कर सकती थी। अतएव यह आवश्यक था कि पहले सारी सत्ता उसी

वर्ग को सौंपी जाय ताकि वह अधिकारपूर्वक शासनहीन और वर्गहीन समाज की स्थापना करने में समर्थ हो सके। लेकिन यह न तो आसान बात थी और न सारा देश इसके लिए राजी हो सकता था, क्योंकि पूँजीपति और किसान-वर्ग, दोनों अपनी साम्पत्तिक स्थिति को त्याग कर मजदूरों को आत्मसमर्पण करने के लिए तैयार नहीं थे। अतः जबरदस्ती की आवश्यकता पड़ी, जिसकी सफलता के लिए यह जरूरी था कि शुरू में एक जागरूक तथा सुसंगठित दल श्रमिकों की ओर से सब पर कब्जा करे। मार्क्सवादी समझते थे कि कोई दूसरा इस सिद्धान्त के प्रति वफादार नहीं रह सकता, क्योंकि वह आदर्श का सही प्रतिपालन नहीं कर सकेगा। फलतः इस दल ने मजदूरों की ओर से पहले समाज के सम्पूर्ण जीवन पर कब्जा किया; प्रजा की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेने के बाद इसने स्वयं प्रजा का ठीक उसी प्रकार दमन शुरू किया, जैसे पुराने जमाने में प्रजा की धर्मरक्षा के ठेकेदार लोग प्रजा की आध्यात्मिक सभ्यता की रक्षा करने के हेतु उन्हें जिन्दा जला देना भी उन पर करुणा और आशीर्वाद बरसाने के समान मानते थे।

दो धाराएँ

इस तरह समाज को पूँजीवादी संकट से छुड़ाने के लिए दो प्रयोग शुरू हुए : पहले की कोशिश थी कि एक सचेष्ट, सबल और सुयोग्य दल के द्वारा पूँजीवर्ग और जनवर्ग, दोनों पर कब्जा करके समाज के सुव्यवस्थित संचालन के द्वारा सुख और चैन की स्थापना की जाय। दूसरे की चेष्टा यह थी कि श्रमिकों की ओर से पूँजीपति और किसान, इन सभी वर्गों को जबरदस्ती मिटा-कर सारी सत्ता श्रमिक-वर्ग की ओर से एक सुयोग्य और शक्तिशाली दल के हाथ में सौंप दी जाय, ताकि एक ही वर्ग के अधिनायकत्व के कारण शोषण और संघर्ष का लोप हो सके। परन्तु इन दोनों की कामयाबी व्यापक हिंसा और एक ही दल की तानाशाही पर आधृत थी। यही कारण है कि आज दुनिया में तानाशाही तंत्र इतने जोरों से फैल रहा है; पूँजीवाद के स्वच्छन्द शोषण से घबड़ाये हुए लोगों को दूसरा कोई रास्ता ही नजर नहीं आता, लोग कड़ाही से निकलकर भट्ठी में कूद पड़ने के लिए उद्यत हैं।

पूँजीवादी और समष्टिवादी विधान

उत्पादन के तरीके और तत्सम्बन्धी व्यवस्था ने इस तानाशाही को फैलने में काफी मदद पहुँचायी है। समाज के तौर तरीके सदा वैसे ही होते हैं जैसे उत्पादन के तरीके होते हैं। समष्टिवादी समाज की उत्पादन-विधि में पूँजीवादी तरीकों से कोई भिन्नता नहीं थी। दोनों का ढंग केन्द्रीय था। समष्टिवादियों ने केवल उन केन्द्रीय यंत्रों का संचालन श्रमिकों की ओर से चलनेवाले एक दल के हाथ में सौंप दिया। पूँजीवादी समाज में प्रतिनिधि द्वारा संचालित शासन-यंत्र को पूँजीपति ने प्रतिनिधित्व पर कब्जा करके अपने अधीन रखा था। इस प्रकार शासन और उत्पादन, दोनों पर पूँजीपतियों का कब्जा था। समष्टिवादी विधान में अन्तर इतना ही हुआ कि दोनों यंत्रों का नियन्त्रण पूँजीपति के हाथ से निकलकर एक दल के हाथ में आ गया (यह दल श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करने की और अन्त में सत्ता उन्हींको सौंप देने की बात करता है)।

संपत्ति के मोह से अधिकार का मोह अधिक बलवान् है

समष्टिवादी कहते हैं कि जिसके पास एक बार सम्पत्ति इकट्ठी हो जाती है, वह उसे छोड़ना नहीं चाहता, बल्कि उसे बढ़ाने में ही लगा रहता है जो दूसरों के शोषण से ही सम्भव हो सकता है। लेकिन मनुष्य का स्वार्थ केवल सम्पत्ति पर कब्जा करने तक ही सीमित नहीं रहता। समष्टिवादी यह भूल गये कि अधिकार का मोह सम्पत्ति के मोह से अधिक बलवान् होता है। जो व्यक्ति या दल एक बार सत्ता पर कब्जा कर लेगा वह उसे जनता को न देकर अपने हाथों में केन्द्रीभूत करने की कोशिश में नित्य लगा रहेगा और यह दूसरों के निर्दलन से ही पूरा हो सकता है। फलतः जो दल प्रारम्भ में श्रमिकों का राज कायम करने चलता है, वह सफल होने पर श्रमिकों की ओर से सत्ता ग्रहण करता है और फिर अपने को मजबूत बनाकर 'श्रमिक-शाही' नाम से राज करने लगता है। यही कारण है कि जो दल जनता को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए शासनारूढ़ हुआ था, उसे आज किसी-न-किसी तरह अपना अधिकार कायम रखने की ही फिक्र लग गयी है।

केन्द्रीकरण का परिणाम

जब समष्टिवादियों ने बहुत से पूँजीपतियों को खत्म करके एकदलीय शासन बनाया, तब उन्होंने यह नहीं देखा कि वे मनुष्य की जिन्दगी के साधन-प्राप्ति के जरिये को पहले से भी अधिक केन्द्रित कर रहे थे। नतीजा यह हुआ कि जहाँ पहले बहुत से केन्द्रों में से चुनाव करने की स्वतंत्रता थी, वहाँ आज एक संचालक के अलावा दूसरे किसीके पास जाने की गुंजाइश ही नहीं रह गयी। जब संचालक ने देखा कि उसके सिवा प्रजा के लिए जिन्दगी कायम रखने का दूसरा रास्ता ही नहीं, तो वह उन पर पूरी तरह जमकर उनका अधिनायक बन बैठा। परिणामतः समष्टिवादी राष्ट्रों में भी प्रजा फासिस्टवादी राष्ट्रों के समान ही अधिनायक की वज्रमुष्टि और उसकी लाल आँखों के नीचे दबी हुई है।

(२)

लोकशाही

मानव-इतिहास के प्रारंभ से लेकर आज तक की घटनाओं को देखने से हमें मालूम होता है कि प्रजा एक बार जिस केन्द्र के कब्जे में फँस गयी, उससे छूटने की कोशिश करने पर वह उसमें अधिकाधिक जकड़ती जाती है। इसलिए खोज इस बात की करनी है कि वह कौन-सी बात है जो बार बार लोकतंत्र की चेष्टा को विफल करती जा रही है। जनक्रान्ति की सफलता के लिए आवश्यक था कि शासन-सत्ता विकेन्द्रित होकर प्रजा के हाथ में आये। प्रजा को इस कार्य में सफलता मिली भी, परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के कारण ठीक उसी समय उत्पादन के साधन केन्द्रित हो गये और पूँजीपतियों ने उन्हें हथिया लिया। नतीजा यह हुआ कि उत्पादन के साधनों पर कब्जा हो जाने से शासन-यंत्र पर भी

पूँजीपतियों का कब्जा हो गया और उसने नवजात लोकतंत्र को शैशवावस्था में ही कुचल दिया। मतलब यह कि सत्ता विकेन्द्रित नहीं हो पायी, केवल उसके संचालक बदल गये। इस तरह राज्याधिकार सामंतवर्ग के हाथ से पूँजी-वर्ग के हाथ में आ गया। इस स्थिति को देखकर कार्ल मार्क्स ने समाज को उत्पादन-यंत्र पर अधिकार करने को कहा। मार्क्स की इस सलाह के अनुसार सौ वर्ष तक लोगों ने काम किया और कुछ अनुभव भी प्राप्त किया। इसके बाद गांधीजी का आविर्भाव हुआ। उन्होंने देखा कि मार्क्स के बताये तरीकों से समाज का काम चलनेवाला नहीं है, क्योंकि जब तक उत्पादन और शासन-यंत्र केन्द्रवत् रहेगा, सत्ता प्रजा के हाथ में आ ही नहीं सकती। यह साफ है कि केन्द्रीय यन्त्रों पर जिसका कब्जा रहेगा, वह चाहे प्रतिनिधि हो या पूँजीपति, वास्तविक सत्ता उसीके हाथ में रहेगी और वह येन-केन प्रकारेण साधनों का स्वेच्छानुसार उपयोग करके लोगों पर हमेशा कब्जा जमाये रखेगा। अतः आवश्यकता इस बात की है कि उत्पादन और शासन, दोनों पर प्रजा का केवल वैधानिक ही नहीं, वास्तविक कब्जा हो और केन्द्रीय यंत्र को विकेन्द्रित करके उसे जनता को सौंप दिया जाय। परन्तु सत्ता का विकेन्द्रीकरण तब तक नहीं हो सकता जब तक यंत्रों का विकेन्द्रीकरण न हो जाय, यानी शासन तथा उत्पादन, दोनों विकेन्द्रित होकर प्रत्यक्ष रूप से प्रजा के हाथ में आने पर ही सही लोकशाही कायम हो सकती है।

कार्ल मार्क्स के कुछ अनुयायी इस बात को नहीं मानते हैं। वे लोकशाही पर आस्था रखते हैं। वे कहते हैं कि रूस में समष्टिवाद के कारण जो तानाशाही फैली, उसका कारण स्टालिन द्वारा मार्क्सवाद का धोखा होना है। लोकशाही के माननेवाले मार्क्स के ये समाजवादी अनुयायी पार्लियामेण्ट के तरीके पर आस्था रखते हैं। वे भूमि और उद्योग का राष्ट्रीयकरण करके पार्लियामेण्टरी जनतन्त्र चलाना चाहते हैं अर्थात् वे राजनीति में अधिकारी दल के साथ-साथ एक विरोधी दल को रखना चाहते हैं। पार्लियामेण्टरी लोकशाही में विरोधी दलवालों की निरन्तर चेष्टा यह होती है कि वे अधिकारी दल को सत्ता से हटाकर खुद सत्तारूढ़ हो जायँ। और यह उद्देश्य जनता के

वोट से ही पूरा करना चाहते हैं। इसका मतलब यह है कि वे निरन्तर जनता के सामने इस बात को साबित करने की कोशिश करें कि सरकारी व्यवस्था निकम्मी है अतएव उन्हें वोट न देकर विरोधी दल को वोट दे। केन्द्रीकरण के आधार पर भूमि और उद्योग के राष्ट्रीयकरण का मतलब है, सरकार द्वारा दोनों पर सम्पूर्ण नियन्त्रण। इसका मतलब यह है कि जनता की दैनिक आवश्यकता के वितरण की व्यवस्था सरकार की ओर से ही हो सकेगी। विरोधी दल स्वभावतः सरकार को निकम्मा साबित करने की कोशिश में इस व्यवस्था में घपला पैदा करेंगे। कोई भी सरकार इस स्थिति को बरदाश्त नहीं कर सकती। अतः अगर भूमि और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना है, तो यह स्वाभाविक है कि सरकार विरोधी दल के अस्तित्व को कायम ही न होने दे, नहीं तो वे अपनी व्यवस्था सुचारु रूप से न चला सकेंगे। अतः यह स्पष्ट है कि अधिकारी दल द्वारा सम्पूर्ण आर्थिक जिम्मेदारी तभी निभ सकती है, जब अधिकारी दल राजनीति पर एकाधिपत्य कर सके। वस्तुतः रूस में जो तानाशाही चल रही है, वह स्टालिन के विकृत मस्तिष्क का फल नहीं है; बल्कि वह केन्द्रीकरण का लाजमी नतीजा है। यही कारण है कि हमने ऊपर बताया है, बिना **विकेन्द्रीकरण** के लोकशाही सम्भव नहीं है।

स्वतंत्रता : सम्पूर्ण विकेन्द्रीकरण

केन्द्रीय शासन और उत्पादन-यंत्र का प्रत्यक्ष रूप से प्रजा के हाथ में आने का अर्थ यह है कि प्रजा जिन्दगी की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समाज की व्यवस्था के लिए स्वावलंबी हो। अतः शासन-यंत्र तथा उत्पादन-यंत्र का सम्पूर्ण विकेन्द्रीकरण ही प्रजा की सम्पूर्ण स्वतंत्रता है और प्रजा की पूर्ण स्वतंत्रता की हालत में केन्द्रीय शासन या केन्द्रीय व्यवस्था की गुंजाइश ही नहीं रह जाती।

समष्टिवादी भी यही कहते हैं। वे भी कहते हैं कि संसार शासनहीन हो जाय। लेकिन ऐसा कैसे हो? क्या सारी चीज केन्द्रीय शासन के अधिकार में रखकर उसे दिन-ब-दिन मजबूत बनाते जाने से उसका अन्त हो जायगा?

हिंसा की समाप्ति के लिए शासन की समाप्ति जरूरी है

जो लोग अहिंसात्मक समाज-रचना के आधार पर सोचते हैं, उनकी दृष्टि से भी आवश्यक है कि शासन यानी सरकार के अस्तित्व को खतम कर दिया जाय। हम पहले ही कह चुके हैं कि व्यक्तियों की अलग-अलग छोटी-छोटी हिंसाओं को दबाने के लिए ही एक बड़ी हिंसा के रूप में शासन-यंत्र की स्थापना हुई थी। शासन का काम है प्रजा को दबाकर उस पर नियंत्रण रखना यानी **शासन-यंत्र का स्वरूप स्वभावतः हिंसात्मक होता है।** इसलिए संसार से हिंसा को खतम करने के लिए जरूरी है कि संसार से सरकारों का खातमा हो जाय। लेकिन यह बात सरकार का हाथ मजबूत करने से नहीं हो सकती है। उसके लिए समाज को स्वशासन तथा स्वव्यवस्था के योग्य होना चाहिए। यह योग्यता जनता में तभी आ सकती है, जब वह अपनी दैनिक व्यवस्था के लिए स्वावलंबी हो।

लेकिन इसका उपाय क्या? सदियों से मनुष्य किसी व्यक्ति, वर्ग या दल द्वारा संचालित होने का आदी हो गया है। उसके चरित्र में स्वावलम्बन की वृत्ति या योग्यता नहीं रह गयी। केवल यह कहकर कि शासन-संस्था समाज के लिए अनावश्यक ही नहीं वरन् हानिकारक है, उसे विघटित कर दिया जाय, काफी नहीं है। इसके लिए सारे समाज का संस्कार ही बदलने की आवश्यकता है। नहीं तो यूरोप में प्रिन्स क्रोपाटकिन आदि के नेतृत्व में अराज्यवादी आन्दोलन जिस प्रकार विफल हुआ, उसी तरह यह शासनहीन समाज-रचना की चेष्टा भी व्यर्थ हो जायगी। स्वावलम्बन की आर्थिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा मनोवैज्ञानिक तैयारी के बिना जबरदस्ती राज्य को तोड़ देने से समाज में "अराजक स्वतन्त्रता" की स्थापना न होकर "स्वच्छन्द अतन्त्रता" फैल जायगी। और इस स्थिति से ऊबकर मनुष्य किसी तानाशाह के गोद में अपना आत्मसमर्पण कर देगा।

स्वच्छंदता और स्वतंत्रता

ऐसी स्वच्छन्द स्थिति तो शुरू में थी ही। लेकिन उसकी स्वच्छन्दता से पारस्परिक हिंसा पैदा हुई और सारा समाज ही खतरे में पड़ गया।

अतः समाज को शासनहीन बनने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य की स्वच्छंदता के स्थान पर स्वतन्त्रता का विकास हो। जब तक लोगों में स्वतंत्रता की योग्यता न हो, वे स्वतंत्र रह ही नहीं सकते। इसके लिए लोगों में स्वावलम्बी वृत्ति की नितान्त आवश्यकता है।

शिक्षा का सच्चा उद्देश्य

यह तभी हो सकता है, जब हमारी शिक्षा की पद्धति ऐसी हो कि जिससे प्रत्येक व्यक्ति में अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त स्वावलम्बन और समाज-व्यवस्था के लिए पर्याप्त योग्यता पैदा हो सके; क्योंकि शिक्षा का सच्चा उद्देश्य व्यक्ति को सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तैयार करना ही होता है।

नयी तालीम—उद्देश्य और पद्धति

'नयी तालीम' के द्वारा गांधीजी ने इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए एक निश्चित कदम उठाया। उन्होंने सामाजिक वातावरण और प्रकृति-परिचय के साथ उद्योग को इस तालीम का माध्यम बनाया। स्वावलम्बी समाज की स्थापना हो ही नहीं सकती जब तक लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं न कर सकें और इसके लिए आवश्यक है कि लोग बचपन से ही कारीगरी में अभ्यस्त हों और उन्हें इसका शास्त्रीय ज्ञान भी प्राप्त हो। पुराने जमाने में भी उत्पादन का काम दस्तकारी से ही होता था, लेकिन पहले का दस्तकार शास्त्रीय नहीं होता था। ब्राह्मण और शूद्र, दोनों का दो अलग हिस्सों में बँटे रहने से ज्ञान और उद्योग का समवाय नहीं हो सका था। ज्ञान अनुभव के अभाव से डूब गया और उद्योग शास्त्रीय ज्ञान के अभाव में जड़ हो गया। यह ठीक है कि समाज अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अपने निश्चित दायरे में ही कर लेता था और इस दृष्टि से उसे स्वावलम्बी कहा जा सकता है, परन्तु ज्ञान-विज्ञान, व्यवस्था और संचालन एक विशिष्ट वर्ग के ही जिम्मे होने के कारण प्रजा स्वावलम्बी होकर भी स्वतन्त्र नहीं थी। उसे बचपन से ही हर

बात के लिए केन्द्र-तन्त्र का मुँह ताकते रहना पड़ता था। अतः गांधीजी जहाँ गृह-उद्योग की शिक्षा द्वारा प्रजा को अपनी भौतिक आवश्यकताओं के लिए स्वावलम्बी बनाना चाहते थे, वहीं औद्योगिक प्रक्रिया के माध्यम से बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विकास द्वारा उन्हें सुविकसित, जाग्रत और स्वतन्त्र नागरिक भी बना देना चाहते थे। इस प्रकार औद्योगिक प्रक्रियाओं के द्वारा वस्तु और विषय का ज्ञान कराकर गांधीजी लोगों में सामाजिक और राजनीतिक चेतना को जाग्रत रखना चाहते थे। इस तरह लोगों का बौद्धिक तथा सामाजिक विकास इतना सुस्पष्ट रहता है कि वे केन्द्र का मुँह ताके बिना ही सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं का समयानुकूल हल निकालकर बदलती हुई दुनिया में अपनी प्रगति को कायम रख सकते हैं। सामान्यतः लोगों में इस प्रकार की योग्यता न होने के कारण वे विशेषज्ञों के चंगुल में फँसकर उनके गुलाम बन जाते रहे। अतः उद्योग-वृत्ति और विज्ञान को मनुष्य के जीवन का एक अंग बना देने की आवश्यकता है। यह तभी हो सकता है, जब इन बातों का बचपन से ही चेष्टापूर्वक सचेतन अभ्यास किया जाय और इस प्रकार निरन्तर अभ्यास से मनुष्य के संस्कार में ही स्वावलम्बन का समावेश हो जाय। गांधीजी की 'नयी तालीम' का यही उद्देश्य और उसकी यही पद्धति है।

नयी तालीम की आवश्यकता

बच्चों की एक कहानी है कि कई राक्षस अपनी जान को एक भौंरे के अन्दर रखकर निश्चिन्ततापूर्वक विचरते थे। एक दिन एक राजकुमार ने राक्षसों की गैरहाजिरी में उस भौंरे को मुट्ठी में रख लिया। राक्षसों की जान ही जब मुट्ठी में थी, तो राक्षस अपने आप मुट्ठी में हो गये। फिर तो राजकुमार उन राक्षसों पर निर्द्वन्द्व होकर हमेशा राज करता रहा। है तो यह कहानी, पर इससे एक बहुत बड़ी बात का ज्ञान होता है। अगर जनता किसी मिल की चिमनी या ट्रैक्टर के पहिये रूपी भौंरे में अपनी जान रखकर निश्चिन्त रहेगी, तो उसकी निश्चिन्तता के समय कोई-न-कोई इस भौंरे को अपनी मुट्ठी में करके उन पर राज्य करने लगेगा। अतः यह

जरूरी है कि जनता अपनी जान अपने शरीर में ही रखे यानी जीवन की आवश्यकता को अपने शरीर-श्रम से पैदा करे। लेकिन ऐसा करने में अगर जनता को तकलीफ हो, अगर उत्पादन की प्रक्रिया में उसे रस न मिले, या अत्यधिक समय तक उसीमें फँसे रहने से ऊब जाय, तो मुमकिन है कि वह इस प्रकार से प्राप्त अपनी कीमती आजादी से गुलामी में रहकर कुछ सहूलियत को अधिक पसंद करने लग जाय। इसलिए आवश्यक है कि दस्तकारी का काम कलापूर्ण हो, उसकी गति तेज और उसका कौशल सुगम हो तथा प्रक्रिया के साथ-साथ उसका वैज्ञानिक रहस्य और आर्थिक तथा सामाजिक आधार की जानकारी होती रहे। कौशल सुगम तभी होगा, जब बचपन से ही इसकी आदत डाली जाय। 'नयी तालीम' से न केवल यह अभ्यास दृढ़ होता है, बल्कि इस अभ्यास की आवश्यकता और उसके रहस्य का भी प्रेरणात्मक बोध होता जाता है।

नयी तालीम से समाज-विज्ञान का बोध होता है

इस तालीम में सामाजिक वातावरण को भी शिक्षण का माध्यम बनाया गया है। इस तरह बच्चों को शुरू से ही समाज की समस्याओं का ज्ञान और अनुभव प्राप्त होता है। समाज-व्यवस्था और वातावरण के अध्ययन के साथ-साथ बच्चों में समस्याओं का हल ढूँढ़ने की शक्ति पैदा होती है, क्योंकि चाहे बच्चा हो या बूढ़ा, जब उसका मस्तिष्क किसी समस्या पर विचार करने लगता है, तो उसमें स्वभावतः तह तक पहुँचने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। अतः नयी तालीम के बच्चों को समाज-विज्ञान का अभ्यास होता है और वे अपनी व्यवस्था का भार सहयोगिता के आधार पर अपने आप ग्रहण करने के योग्य बनते हैं।

स्वयं विकेन्द्रीकरण

शिक्षा सार्वजनिक होने के कारण जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति स्वावलम्बी उत्पादक और स्वावलम्बी व्यवस्थापक होने लगता है, तो वह धीरे-धीरे शासन को पूर्णरूपेण विघटित करने में भी समर्थ सिद्ध होता है। प्रजा अपनी आवश्यकता

की पूर्ति और समाज की व्यवस्था खुद कर ले तो उसे किसी केन्द्रीय शासन का भरोसा ही क्यों करना पड़ेगा ? इस तरह सारा समाज स्वयं विकेन्द्रित हो जाता है।

गांधी और समष्टिवादी

समष्टिवादी भी प्रजा को स्वतंत्र तथा समाज को शान्तिपूर्ण बनाने के लिए संसार में शासनहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं। लेकिन उनका रास्ता गांधीजी से भिन्न है। वे शासन-यंत्र को उत्तरोत्तर संघटित करके ही शासन को विघटित करना चाहते हैं। गांधीजी का कहना है कि हमें जिस ओर जाना है, हमारी दिशा भी उसी ओर होनी चाहिए। प्रतिकूल दिशा में चलकर कोई अपने मन्तव्य स्थान पर नहीं पहुँच सकता। अतः अगर शासन को खतम करना है, तो यह काम उसी शासन को संगठित करने से नहीं बनेगा। विघटन का काम तो विघटन के रास्ते से ही होगा। यही कारण है कि गांधीजी 'नयी तालीम' के द्वारा प्रजा की अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समाज की व्यवस्था, दोनों के लिए स्वावलंबन का अभ्यास कराकर शासन के दायरे को क्रमशः घटाना चाहते थे ताकि अन्त में वह घेरा बिल्कुल खतम हो जाय और प्रजा शासन-चक्र से मुक्त होकर पूर्णतः स्वावलम्बी हो जाय। इस तरीके से लाभ यह होता है कि इस विघटन की प्रगति के साथ-साथ प्रजा की स्वतंत्रता में भी प्रगति होती रहती है और अंत में वह पूर्णतः स्वतंत्र हो जाती है। लेकिन अगर हमारा रास्ता शासन को क्रमशः अधिकाधिक संगठित करने का हो, तो ज्यों-ज्यों यह संगठन घनीभूत होगा त्यों-त्यों प्रजा की स्वतंत्रता स्वभावतः घटती जायगी। इस साधारण विवेक के विरुद्ध यह समझ में नहीं आता कि यह अति संगठित केन्द्रीय शासन-यन्त्र कब और कैसे अपना काम खतम करके अपने आप सूखकर प्रजा को मुक्त कर सकेगा। कहा जा सकता है कि जब यह केन्द्रीय शासन पूर्णत्व को प्राप्त होगा, तो वह प्रकृति के नियमानुसार अन्त में पंचत्व को प्राप्त हो ही जायगा। यह वैज्ञानिक नियम हर चीज में लागू होता है। लेकिन यह एक वैज्ञानिक आदर्श की स्थिति है

जो समाज की अंतिम स्थिति होगी और जिसके बाद समाज का कोई अस्तित्व ही नहीं रहेगा। उस समय प्रजा मुक्त होकर ही क्या करेगी? प्रजा को इस बात में दिलचस्पी नहीं होती कि किसी अनंतकालीन आदर्श स्थिति में उसकी क्या दशा होगी, बल्कि उसे तो इस बात में दिलचस्पी होती है कि उस आदर्श तक पहुँचने के रास्ते में उसकी हालत क्या रहेगी। वस्तुतः आदर्श तो रेखा-गणित के बिन्दु जैसी कल्पना की वस्तु है, दिखायी देने की नहीं। इस तरह गांधी और मार्क्स की योजनाओं का अन्तर अपने आप समझ में आ जाता है। समष्टिवादी योजना में प्रजा संगठित केन्द्र की वज्रमुष्टि में दबी पड़ी रहती है, परन्तु गांधीजी की योजना में वह शासन को तोड़ती हुई और अपनी स्वतंत्रता को स्थापित करती हुई आगे बढ़ती है।

आदर्श और व्यवहार

समष्टिवादी कहते हैं कि पहले शासन को अधिकाधिक संगठित करके प्रजा की स्वार्थ-बुद्धि को नियंत्रित कर लिया जाय और जब शासन का दायरा पूर्ण हो जायगा, तो वह प्रकृति के अबाध नियमों के अनुसार अपने आप खतम हो जायगा और तब प्रजा स्वतंत्र और शासनहीन हो जायगी। परन्तु यह कोरा आदर्शवाद (Utopia) है, व्यवहार से इसका कोई संबंध नहीं, क्योंकि जो आदर्श है वह अन्तिम है, वह पकड़ की चीज यानी प्राप्य वस्तु नहीं हो सकती। समाज जितना ही उस ओर बढ़ेगा उतना ही वह भी मरुभूमि की मरीचिका के समान आगे बढ़ता जायगा। व्यवहारवाद उसे कहते हैं कि जिसके अनुसार चेष्टा की प्रगति में ही उद्देश्य की प्रगति का अनुभव हो।

अभ्यास और स्थायित्व

केवल कल्पना या स्वप्न-लोक में विचरा जाय, तो भी ये बातें युक्ति-संगत नहीं मालूम होतीं। थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जाय कि शासन-सत्ता की ओर से दुनिया के सर्वस्व पर कब्जा करके केन्द्र द्वारा समाज के संपूर्ण दायरे की व्यवस्था की जाय और इस शासन का संगठन पूर्ण होते

पर मानव-समाज के पकड़-काल में ही शासन सूख जायगा, तो जनता के ऊपर से जिस दिन एकाएक शासन हटेगा, उस दिन जनता किंकर्तव्यविमूढ़ हो जायगी। सारा कर्तृत्व, सारा उत्तरदायित्व केन्द्र को सौंपकर निश्चित पड़ी रहने के बाद एकाएक वह प्रेरणा-शक्ति कहाँ से आयगी? विज्ञान का यह एक खास नियम है कि जिस शक्ति का अभ्यास न किया जाय, उसको लकवा मार जाता है। अतः समाज को यदि वह कल्पित स्वतंत्रता प्राप्त भी हो जाय तो भी जनता में प्रेरणा-शक्ति का अभाव होने के कारण वह समाज चल नहीं सकेगा।

नयी तालीम—एकमात्र वैज्ञानिक रास्ता

इस तरह हम देखते हैं कि 'नयी तालीम' से जनता स्वावलंबी, शान्तिमय और अहिंसात्मक तरीकों से संसार को शासन-हीनता की ओर सफलतापूर्वक ले जा सकेगी। यह रास्ता अधिक वैज्ञानिक, अधिक व्यावहारिक, अधिक प्रगतिशील और अधिक सुनिश्चित है। इस रास्ते में प्रजा को किसी अनंतकालीन मुक्ति की आशा लेकर बैठे नहीं रहना पड़ता, बल्कि उसे अपनी स्वयं प्रेरणा और स्वतंत्र चेष्टा से आगे बढ़ने का निरन्तर मौका मिलता है। ● ● ●

आर्थिक और सामाजिक आधार

: ३ :

हमने देखा है कि 'नयी तालीम' द्वारा गांधीजी किस तरह वास्तविक जनतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे। विकेन्द्रीकरण के आधार पर स्वावलम्बी समाज की योजना जनतन्त्र के इतिहास में एक बड़ी क्रान्तिकारी कल्पना है और शासन-यन्त्र से तानाशाही के भय को दूर रखने का केवल यही एकमात्र उपाय है। लेकिन सिर्फ राजनीतिक स्वराज्य से ही समाज का सन्तुलन कायम नहीं हो सकता। इतिहास को देखने से पता चलता है कि एकांगी क्रान्ति से प्रजा कभी अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं कर पायी है, इसलिए यह आवश्यक है कि जनता अपने आदर्श पर पहुँचने के लिए और फिर उस आदर्श पर स्थायी रूप से कायम रहने के लिए सभी क्षेत्र में सर्वांगीण क्रान्ति करे, और हर क्षेत्र की वही दिशा होनी चाहिए। इस बात पर जोर देने की आवश्यकता इसलिए है कि प्रायः जोश में आकर क्रान्तिकारी लोग सर्वांगीण दृष्टि और क्षेत्र-सामंजस्य की बात भूल जाते हैं और विभिन्न क्षेत्र के लिए विभिन्न दिशा में कदम उठाते हैं। यही कारण है कि गांधीजी शुरू से ही राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक, सभी क्षेत्रों में एक साथ क्रान्तिकारी आन्दोलन करते रहे; यद्यपि भारत के राष्ट्रीय नेता और साधारण लोग गांधीजी की इस सर्वांगीण योजना में से उतने ही हिस्से को समझ पाये जितना उनकी गुलामी की समस्या से सम्बन्ध रखता था और उन्होंने सारे कार्यक्रम में से राष्ट्रीय आजादी के पहलुओं पर ही उत्साह से अमल किया। नतीजा यह हुआ कि जहाँ गांधीजी त्रिसूत्री योजना द्वारा देश के राजनीतिक जीवन को साम्राज्यवाद के हाथ से, सामाजिक जीवन को प्रतिक्रियावाद के हाथ से और आर्थिक जीवन को पूँजीवाद के हाथ से एक साथ छुड़ाना चाहते थे, वहाँ देश ने केवल राजनीतिक दिशा में चलकर सिर्फ राजनीतिक मुक्ति पायी और बाकी दो दिशाएँ

शून्य ही रह गयीं। राजनीतिक क्षेत्र में भी केवल विदेशी राज्य हटा, लेकिन राज्यव्यवस्था तथा पद्धति उसी तरह की रह गयी जिसे साम्राज्यवाद ने शोषण के उद्देश्य से कायम किया था। इन लोगों ने इस बात पर गौर नहीं किया कि सन् '२१ से ही गांधीजी असहयोग और सत्याग्रह द्वारा अंग्रेजी सल्तनत से लड़ते हुए रचनात्मक कार्यक्रम पर अत्यधिक जोर देते रहे और जनता का ध्यान आर्थिक तथा सामाजिक क्रान्ति की ओर अन्तिम क्षण तक खींचते गये। एक ओर तो वे राजनीतिक क्षेत्र में एक नये ढंग की क्रान्ति द्वारा एक नया राजनीतिक ढाँचा कायम करना चाहते थे और दूसरी ओर वे संसार के वर्तमान आर्थिक और सामाजिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन करके उसे स्थायी रूप से शोषणहीन यानी अहिंसात्मक रूप देने की चेष्टा कर रहे थे। अतएव यह आवश्यक है कि हम नयी तालीम के आर्थिक और सामाजिक आधार पर भी ठीक से विचार कर लें।

उत्पादन यन्त्रों का विस्तार

पहले समाज की व्यवस्था आज जैसी जटिल नहीं थी। पहले मनुष्य प्रकृति की गोद में रमता था। प्रकृति माता के आँचल से जो कुछ आसानी के साथ मिल जाता था, मनुष्य उसीमें सन्तोष कर लेता था। फिर श्रम और समय लगाकर अपनी साधारण बुद्धि के द्वारा वह कुछ पैदा करने लगा। इस प्रकार उसने कृषि, पशु-पालन और उद्योग के द्वारा अपनी उपभोग्य सामग्री के दायरे का विस्तार किया। धीरे-धीरे जब उसने देखा कि प्रकृति के अनन्त साधनों को उपयोग में लगाने से जिन्दगी में अधिक आराम और सुख मिल सकता है तो उसकी तृष्णा बढ़ने लगी; उसका सन्तोष खतम हो गया; वह अधिकाधिक पैदा करने की फिक्र में पड़ गया और उसने तरह-तरह के उत्पादन यन्त्रों की सृष्टि की। यन्त्रों के आविष्कार से मानव-समाज में भिन्न-भिन्न वस्तुओं को प्राप्त करने की लालसा के साथ-साथ श्रम बचाने की तृष्णा तीव्र हो उठी। इस लालसा और तृष्णा को तृप्त करने के लिए लोग यन्त्रों के आकार और प्रकार को अधिकाधिक विशाल और जटिल बनाते गये। भाप,

बिजली—तरह-तरह की शक्तियों को इस्तेमाल करने के तरीके निकले और उत्पादन के तरीकों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। परिवर्तनों ने नये परिवर्तनों को जन्म दिया और यंत्र दिनोंदिन विशालतर होते गये।

युगीन समस्याएँ और महापुरुषों का आगमन

समाज की व्यवस्था उत्पादन के तरीकों पर निर्भर करती है और उत्पादन के तरीके उसके साधनों के स्वरूप से ही बनते हैं। अतः यंत्रों की जटिलता और विशालता के कारण उत्पादन के तरीके जटिल और केन्द्रित हुए और फिर समाज-व्यवस्था ने जटिल केन्द्रीकरण का रूप धारण किया। केन्द्रित समाज की समस्याएँ धीरे-धीरे जटिल होती गयीं। एक समस्या के अन्दर ही दूसरी समस्या खड़ी होने लगी और मनुष्य उन समस्याओं के हल में उलझता गया। इन समस्याओं को हल करने के लिए भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न महापुरुषों का जन्म हुआ। इन लोगों ने समय और परिस्थिति के अनुसार समाधान प्रस्तुत किया। मार्क्स और गांधी को इन्हीं युगीन समस्याओं का प्रतिफल कहना होगा।

वस्तुस्थिति को समझने की जरूरत है

पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि सामन्तवाद के बाद पूँजीवाद और पूँजीवाद के बाद समष्टिवाद का उदय हुआ। उन तमाम राजनीतिक परिवर्तनों में आर्थिक और सामाजिक उलट-फेर के कारण अन्तर्निहित थे, क्योंकि समाज का हर पहलू आर्थिक सूत्रों से बँधा हुआ रहता है। जैसा कि पहले कहा है, जब मनुष्य को अधिक सामग्री-प्राप्ति की तृष्णा बलवती हुई, तब उसने विशाल केन्द्रीय यंत्रों का आविष्कार किया और उसीकी जड़ से सभी केन्द्रीकरण की सृष्टि हुई। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या इस भयंकर यन्त्रीकरण के साथ ही मानव-समाज अधिक सामग्री-प्राप्ति की उद्देश्य-सिद्धि की दिशा में बढ़

है ? समाज ने अपनी उद्देश्य-सिद्धि की ओर प्रगति की होती, तो आज का मनुष्य अभावों का शिकार नजर न आकर भरा-पूरा नजर आता। अतः वस्तुस्थिति को गंभीरतापूर्वक समझने की जरूरत है।

(१)

केन्द्रीय उद्योग से अनुपभोग्य एवं बेकार वस्तुओं की सृष्टि

वास्तविक स्थिति को समझने के लिए सबसे पहले हमें केन्द्रीय उद्योग के रूप और गुण को ठीक तरह से समझना होगा। मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं को देखकर उसके सुख और संपत्ति का अन्दाज लगाया जा सकता है। मोटरकार, साबुन तथा अन्य सामग्री की प्रचुरता होने पर भी अन्न, वस्त्र और आश्रय की कमी हो अथवा मनुष्य के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की सुविधाएँ न हों तो शेष सभी चीजों के भरे रहने पर भी लोगों को उनसे लाभ के बजाय हानि ही अधिक होगी। यह सभी जानते हैं कि हर प्रकार की वस्तु या पदार्थों का मूलस्रोत पृथ्वी है। पृथ्वी से जो कच्चा माल पैदा होता है उसीसे हमारी उपभोग्य सामग्रियों का उत्पादन होता है। केन्द्रीय उद्योगों की प्रगति के साथ-साथ अनेक अनुपभोग्य वस्तुओं की आवश्यकता हुई। विस्तृत भूभाग में पैदा किये हुए कच्चे माल को एक केन्द्र में लाने और फिर वहाँ से पक्के माल को जनता तक पहुँचाने की जरूरत के कारण संसार में माल बाँधने के लिए बारदाने की आवश्यकता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। इसके अलावा चीजों को बार-बार एक स्थान से दूसरे स्थानों पर भेजने के लिए यातायात का जो विराट् संगठन करना पड़ता है, उसके लिए भी ऐसी ही अनेक चीजों की जरूरत होती है। फिर उद्योगों को बढ़ाकर उस माल को खपाने के उद्देश्य से उद्योगवादियों द्वारा जीवन-मान ऊँचा करने का जो वहम दुनिया में फैलाया जाता है, उसके फलस्वरूप संसार में ऐसी वस्तुओं की माँग बढ़ती जा रही है जिनसे वासनाओं की भले ही तृप्ति हो जाय, लेकिन यथार्थतः, वे जीवन के लिए आवश्यक नहीं हैं। केवल उद्योगवादियों के प्रचार से ही नहीं,

बल्कि औद्योगिक केन्द्रीकरण की अप्राकृतिक स्थिति के कारण भी श्रृंगार और मनोरंजन के लिए बेकार चीजों की आवश्यकता बढ़ती जाती है। श्रम के कारण मनुष्य में जो थकावट पैदा होती है, उसको दूर करने के लिए उसे आराम की आवश्यकता होती है। देहाती को खुले वातावरण में वह सहज ही प्राप्त हो जाता है। लेकिन औद्योगिक केन्द्रों की घनी आबादी एवं अस्वास्थ्यकर वातावरण के कारण बड़े-बड़े नगरों की आबादी ऐसे प्राकृतिक वातावरण से वंचित रहती है। अतः लोगों को विश्रान्ति के कृत्रिम साधनों की आवश्यकता महसूस होने लगती है, जिसके लिए उन्हे नाना प्रकार की फजूल चीजें पैदा करनी पड़ती हैं, ताकि अँधेरी कोठरियों की दिन भर की थकान से मन को भुलाया जा सके।

समाज का दीवालियापन

इस सम्बन्ध में खास बात ध्यान में रखने की यह है कि आज के औद्योगीकरण के द्वारा उत्पादन की गति बढ़ सकती है, परन्तु उसके परिमाण में कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता। एक मन धान से जो चावल निकलेगा, वह चाहे मिल से निकाला जाय या ढेंकी से, हर हालत में वह एक ही मन रहेगा। यह लोगों का वहम है कि कारखानों से पैदावार बढ़ती है। उल्टे, जैसा कि हमने ऊपर देखा है, औद्योगीकरण के कारण बेकार चीजों की जरूरत पैदा हो जाती है। इन सबका घूम-फिरकर धरती पर असर पड़ता है। इस दबाव का सामना करने के लिए जनता की मौलिक आवश्यकताओं को छोड़कर ऐसी चीजों की पैदावार शुरू होती है, जो कल-कारखानों के मानदण्ड पर थोड़े में भी अधिक "रुपया" बना सके—इसे 'मनी क्राप' या पैसा देनेवाली फसल कहा जाता है। इस तरह धरती अनाज के बखारों से छूटकर गन्ने और जूट के रेशों में फँसती जा रही है, धान को छोड़कर वह नारियल की झुरमुट में लोप हो रही है और जब बंगाल का रौरव अकाल मानवता को हड़प जाने के लिए दहाड़ता हुआ सामने आता है, तो अन्न के बजाय हमारे पास जूट के खाली बोरों और हम्माम

साबुन की टिकियों का ही सहारा शेष रहता है। समाज के बौद्धिक दीवालियेपन का इससे अधिक स्पष्ट स्वरूप क्या हो सकता है ?

भयंकर आर्थिक उपहास

इसी तरह बंगाल में चावल की भूमि पाट की खेती में, बिहार और उत्तर प्रदेश में गेहूँ की जमीन गन्ने की पैदावार में, मद्रास में धान की जमीन नारियल के पेड़ों में और आन्ध्र का शस्य-श्यामल भूखंड तम्बाकू में इसलिए लगाया जा रहा है कि उससे अधिक-से-अधिक बारदाना, मिठाई, साबुन, बीड़ी, सिगरेट आदि पैदा हो सकें। फलतः यदि एक ओर देश में ऊपरी वस्तुओं की प्रचुरता है, तो दूसरी ओर लोग खाने के लिए भी तरस रहे हैं। आज दिल्ली की सड़कों पर डेढ़ आने में सुन्दर कंघी चाहे जितनी मिल सकती हैं लेकिन रुपये में १२ छटाक चावल मिलना कठिन है। फिर यह कैसी प्रचुरता ? यह कैसा भयंकर आर्थिक उपहास है ?

अत्यंत शोचनीय स्थिति

गत दो सौ वर्षों से प्रचुरता की यह मरीचिका, मनुष्य की अनवरत चेष्टा के बावजूद भी हाथ नहीं लग रही है। बल्कि उल्टे समाज में अनेकों जटिल समस्याएँ पैदा होकर विश्वयुद्ध के रूप में घनीभूत होती जा रही हैं। संसार महाप्रलय के गर्त में डूब मरने पर आ गया है। निस्संदेह, स्थिति अत्यंत शोचनीय है।

केन्द्रीकरण : युद्ध और संघर्ष का जनक

युद्ध तो प्राचीन काल में भी हुआ करते थे, लेकिन तब युद्धों की सीमा राजनीतिक प्रभुता में ही समाप्त हो जाती थी; क्योंकि विजेता की प्रभुता स्वीकार कर लेने पर वह खतम हो जाता था। परंतु जब इसके दायरे ने जनता के आर्थिक और सामाजिक जीवन को भी घेर लिया, तो स्वभावतः युद्धों के कारण जनता के जीवन में बड़ी उथल-पुथल होने लगी। यह स्थिति केन्द्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत ही उत्पन्न होती है जब कि लोक-जीवन का आर्थिक और

सामाजिक स्वावलंबन नष्ट हो चुका होता है। साम्पत्तिक विकेन्द्रीकरण की स्थिति में न तो नित्य प्रतिदिन की सुरक्षा की आवश्यकता होती है और न युद्ध की समस्या ही इतनी जटिल होती है। जब देश भर में फैली हुई सम्पत्ति को बटोरकर केन्द्रों में उसकी ढेरियाँ लगा दी जाती हैं तो, स्वभावतः, उन ढेरियों पर लोलुप दृष्टि पड़ती है। मतलब यह कि जैसे-जैसे सम्पत्ति का केन्द्रीकरण होता है, वैसे-वैसे उस पर दूसरों के हमले का खतरा यानी उसकी सुरक्षा की समस्या बढ़ती जाती है। सुरक्षा की यह समस्या ज्यों-ज्यों जटिल होती जाती है, सेना और शस्त्रीकरण की वृद्धि भी अनिवार्य होती जाती है। केवल केन्द्रित सम्पत्ति की रक्षा के लिए ही युद्ध होता है सो बात नहीं; औद्योगीकरण के कारण कच्चे माल की संघटित खोज और फिर उसके केन्द्रीकरण से भी युद्ध की समस्या उत्पन्न होती है; युद्ध की भावना और युद्ध के कारणों को भी वहीं से जन्म मिलता है।

सृष्टि का अकाट्य नियम है कि प्रत्येक प्राणी का अपना स्वभाव और अपना स्वधर्म होता है। सम्पत्ति के केन्द्रित होने से सुरक्षा के कारण जो सेना तथा अस्त्रीकरण की वृद्धि होती है, उसका स्वधर्म अनिवार्यतः युद्धवृत्ति होता है। वह युद्ध के लिए कोई न कोई कारण ढूँढ़ता है। कोई कारण न मिलने पर युद्ध का अन्त करने के लिए ही वह युद्ध करने लगता है। एक स्थान पर पूँजीभूत सम्पत्ति पर कोई हमला करता है, तो उसकी हिफाजत के लिए लड़ना ही पड़ता है—यह मनुष्य का स्वधर्म और स्वभाव है। आज इसी हिफाजत के बहाने सारा संसार सेना और शस्त्रीकरण की होड़ में लग रहा है। इसके लिए नैतिक कारण भी खोज निकाला जाता है। कभी दूसरों पर अपना धर्म लादने के लिए यानी दूसरों की आत्मा का कल्याण करने के लिए और कभी दूसरों पर अपने "वाद" लादने के लिए युद्ध किया जाता है, क्योंकि जब दूसरे अपनी भलाई नहीं समझते, तो गोली मारकर उन्हें भलाई समझाना ठीक उसी तरह जरूरी है, जैसे पुराने जमाने में किसीकी आत्मा कलुषित होने पर उसकी के हेतु उसे जिन्दा जला देना भी जरूरी बताया जाता था।

उद्योगवाद और युद्ध का विषचक्र

इस प्रकार जब युद्ध संसार की एक स्थायी आवश्यकता बन जाता है, तो फिर भूमि पर बोझ बढ़ जाता है; क्योंकि लड़ाई के लिए खाद्य-पदार्थ के बजाय युद्ध-पदार्थ पैदा करना जरूरी हो जाता है। केवल भूमि ही फँसती है सो बात नहीं; पैदा किये हुए खाद्य-पदार्थों को भी युद्ध के सामान बनाने में लगाना पड़ता है। इसके अलावा युद्ध के सफल संचालन के लिए उद्योग-धन्धों का विस्तार जरूरी हो जाता है। इस तरह आज दुनिया में भयंकर "विषचक्र" चल पड़ा है—उद्योग का विस्तार, उस विस्तृत उद्योग की रक्षा के लिए युद्ध और युद्ध के संचालन के लिए उद्योग का विस्तार। इस विषैले चक्र ने दुनिया को ऐसा घेर लिया है कि लोगों को दूसरी तरफ ध्यान देने की फुरसत ही नहीं। फलतः संसार की सारी शक्ति (शारीरिक तथा मानसिक) इसी चक्र के फेर में लग रही है और मूक जनता जीवनावश्यकताओं के अभाव में त्राहि-त्राहि कर रही है। जब औद्योगिक मुल्कों में धरती की शक्ति कच्चा माल पैदा करने की हद को पार कर जाती है, तो इन राष्ट्रों की नजर दूसरे देशों पर पड़ती है। उन देशों पर कब्जा किये बगैर मतलब हासिल नहीं होता और यह युद्ध का कारण बनता है। केवल युद्ध ही नहीं, औद्योगीकरण के विस्तार से संसार में नाना प्रकार के दुर्नीतिपूर्ण सौदे भी होते रहते हैं। मैंने [illegible] कपड़े के कारखानों

की स्थिति दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक अनिश्चित होती जा रही है। नतीजा यह है कि युद्ध हो या शान्ति, दुनिया से संघर्ष का अन्त होता दीखता नहीं। सारी सृष्टि युद्धमय हो चली है। युद्ध के समय तो युद्ध चलता ही है; जब युद्ध बंद भी रहता है, तो संघर्षरूपी आन्तरिक युद्ध का क्रम चलता रहता है। आज तो दुनिया में कितने ही स्थानों में आपसी झगड़े के नाम पर अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध भी चल रहे हैं। परिणामतः समाज का नैतिक स्तर नीचे गिरा जा रहा है। दशा बड़ी दयनीय है।

(२)

स्वावलंबन और सहयोग

जनता जब स्वावलंबी थी, तो वह शान्तिपूर्वक अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेती थी। लोगों को जब अपनी जरूरत अपने श्रम से ही पूरी करनी पड़ती है, तो यह कठिन हो जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही अपनी सारी जरूरतें अपने हाथों से पैदा कर ले। अतः स्वावलंबी समाज-व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि सहयोग यानी साझेदारी के ढंग से सामाजिक उत्पादन का कार्य चले। वस्तुतः उत्पादन के तरीकों से ही सामाजिक व्यवस्था की रूपरेखा बनती है। जब हम लोग स्वावलंबी तरीकों से उत्पादन करते थे, तो समाज के सारे काम उसी साझेदारी के तरीके से चलते थे। साझे का मतलब है कि समाज के प्रत्येक सदस्य को एक-दूसरे का भरोसा हो यानी लोग आपस में इन्सानी नाते से बँधे रहें। सहयोगी समाज तभी चल सकता है, जब मनुष्य एक-दूसरे को धोखा न दे यानी वह ईमानदार रहे; क्योंकि साझे में बेईमानी चल ही नहीं सकती और साझे के बिना जनता स्वावलंबी नहीं हो सकती। अतः स्वावलंबी समाज में जनता का नैतिक स्तर, स्वभावतः ऊँचा रहता है।

केन्द्रीय समाज में पारस्परिक सहयोग का अभाव

आर्थिक और सामाजिक केन्द्रीकरण में समाज की वह स्थिति नहीं रह जाती; लोगों की आवश्यकताओं की सामग्री औद्योगिक केन्द्रों से और समाज की व्यवस्था राजकीय केन्द्रों से वितरित होती है। ऐसी हालत में मनुष्य अकेला रहकर पड़ोसी की बिलकुल परवाह न करके भी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। यहाँ यह आवश्यक नहीं होता कि कोई किसीके भरोसे रहे या लोग दूसरों की फिक्र करें, क्योंकि सभी लोग अलग-अलग केन्द्रीय यंत्र-तंत्र के भरोसे रहने लगते हैं। ऐसी दशा में आपसी सहयोग, साझेदारी या इन्सानी नाते का टूट जाना स्वाभाविक है। अब जिन्दा रहने के लिए पारस्परिक रिश्तों की उतनी आवश्यकता नहीं रही। फिर इस केन्द्रीय व्यवस्था में जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति भी कई एजेन्सियों के पेचदार माध्यम से होने लगी। परिणामतः मूल वितरण-कर्ता और जनता का कोई प्रत्यक्ष संबंध भी नहीं रह गया। इससे समाज में सभी पराये हो गये। फिर धोखा देना, लूट लेना, शोषण कर लेना आदि प्रवृत्तियों के लिए हिचक या लेहाज की गुंजाइश कहाँ ? आज समाज में चोर-बाजारी, धोखा, बेईमानी, रिश्वतखोरी का बाजार इस कदर गरम है कि मनुष्य-मनुष्य का इन्सानी नाता बिलकुल खतम-सा दीख रहा है; मानवता का कोई मतलब ही नहीं रह गया है।

जनता का नैतिक ह्रास

वस्तुतः स्वतंत्र रूप से सिर्फ अपने विवेक के भरोसे मानवी प्रवृत्तियों की पवित्रता की रक्षा करना सबके लिए कठिन होता है। दुनिया में बहुत थोड़े आदमी ऐसे हैं जो नैतिक आधार पर जीवन में सत्य, अहिंसा, ईमानदारी, सहयोग आदि सद्वृत्तियों को स्थायी रूप से अपना सकते हैं। इन प्रवृत्तियों को अगर आम जनता में कायम रखना है, तो व्यक्तिगत शिक्षण के साथ तदनुकूल समाज-व्यवस्था की टेक लगाना होगा; क्योंकि आम जनता की मूल सद्वृत्तियों को अगर परिस्थिति के अनुसार उनकी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के

द्वारा जाग्रत न रखा जाय तो दूसरी शैतानी वृत्तियाँ उन्हें दबा देती हैं। मनुष्य के अन्दर सुर और असुर का संघर्ष तो चलता ही रहता है। यही कारण है कि जब से दुनिया की आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था आपसदारी का आधार छोड़कर व्यक्ति-व्यक्ति के स्वतंत्र आधार पर सीधे केन्द्रों से बँधी रहने लगी, तब से संसार में असत्य, हिंसा, बेईमानी, द्वेष, घृणा आदि दुर्गुणों का विस्तार बढ़ता गया। नतीजा यह हुआ कि पहले साधारण गृहस्थ के लिए जिन सद्गुणों की आवश्यकता थी, आज वे ही महात्मा के लक्षण बताये जाने लगे। इस तरह हम देखते हैं कि उत्कर्ष के बजाय जनता का भीषण नैतिक ह्रास हो रहा है।

चर्खा: स्वावलंबी उत्पादन का केन्द्रबिन्दु है

औद्योगिक केन्द्रीकरण के कारण युद्धरूप घोर हिंसा और वर्ग-संघर्ष की विनाशक स्थिति कैसे पैदा होती है इसे हम समझ चुके हैं। हमने यह भी देखा है कि यंत्र और तंत्र के केन्द्रीकरण से मनुष्य का एक-दूसरे के साथ मानवता का सम्बन्ध टूट जाता है और लोग मशीनों के पुर्जे बन जाते हैं। सारा समाज सजीव समष्टि के बजाय एक विशाल जड़तंत्र का रूप धारण कर लेता है। मनुष्य की अन्तर्हित सद्‌वृत्तियाँ अनुकूल परिस्थिति के अभाव में नष्ट-भ्रष्ट होती जाती हैं। समाज में असत्य, द्वेष तथा हिंसा का जमघट होता जा रहा है। इस घातक स्थिति का निराकरण स्वावलंबी अर्थनीति और समाज-व्यवस्था से ही हो सकता है। यही कारण है कि गांधीजी ने चर्खे को अहिंसा का प्रतीक माना है, क्योंकि वह स्वावलम्बी उत्पादन का केन्द्रबिन्दु है।

'नयी तालीम': भावी समाज का ढाँचा

अब प्रश्न यह है कि ऐसी समाज-व्यवस्था कायम करने का तरीका क्या हो? एक स्थायी समाज-व्यवस्था के लिए उचित वातावरण पैदा करने के उद्देश्य से साधारणतः कुछ तात्कालिक कार्यक्रम बन सकता है और लोगों पर उसका कुछ प्रभाव पड़ सकता है, परन्तु जिस आदर्श समाज की हम कल्पना

करते हैं, उसकी जरूरत के मुताबिक नागरिक तैयार करने के लिए शिक्षा-पद्धति में ही ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की जरूरत है, जिससे भविष्य के नागरिक बचपन से ही उस ढाँचे में ढल सकें। गांधीजी 'नयी तालीम' के जरिये जनता को उसी ढाँचे में ढालना चाहते थे। विकेन्द्रीकरण के आधार पर स्वावलंबी समाज तभी संभव हो सकता है, जब समाज के प्रत्येक व्यक्ति में स्वतंत्र रूप से जिन्दगी की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समाज-व्यवस्था चलाने की योग्यता हो। सिर्फ योग्यता से ही ऐसा समाज कायम नहीं रह सकता। उनके संस्कार और उनकी प्रवृत्ति भी स्वावलंबी होनी चाहिए।

'नयी तालीम' : स्वावलंबन की क्रियात्मक शक्ति

इसलिए नयी शिक्षा-पद्धति में शिक्षा का माध्यम अक्षर न रखकर सामाजिक वातावरण तथा उत्पादन की प्रक्रिया रखी गयी है। सामाजिक वातावरण के अध्ययन से उनको समस्याओं का ज्ञान होता है। समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का अभ्यास होता है। इस अभ्यास से समाज-व्यवस्था की जिम्मेदारी महसूस करना भविष्य के इन स्वतंत्र नागरिकों का स्वभाव बन जाता है। जब तक जनता में इस प्रकार की जिम्मेदारी की स्वयं प्रेरणा नहीं होगी, लोग अपनी आन्तरिक व्यवस्था और सुरक्षा के लिए किसी बाहरी शक्ति के मुहताज बने रहेंगे। बचपन से ही उत्पादन की प्रक्रियाओं का अभ्यास होने पर मनुष्य आसानी से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केन्द्रीय यंत्रों का भरोसा छोड़ देता है। बचपन से ही कठिन होते हुए भी इन प्रक्रियाओं के माध्यम से विभिन्न विषयों का ज्ञान कराने के कारण उत्पादन क्रम की जड़ता नष्ट हो जाती है, लोग उसके वैज्ञानिक तत्त्व को भी समझते हैं और लगातार प्रगति होती रहती है। इस प्रकार नयी तालीम की पद्धति से जनता की प्रवृत्ति केन्द्रीय यंत्र-तंत्र का भरोसा करने के बजाय अपने पर भरोसा करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। अतः नयी तालीम स्वावलंबन की एक परम क्रियात्मक शक्ति है।

केवल भरोसे की बात नहीं। मौलिक आवश्यकताओं की प्राप्ति की वैज्ञानिक कुंजी अपने हाथों में होने के कारण आज जनता के श्रम का जो शोषण हो रहा है, वह नहीं हो पायेगा और उनका अभावजनित उत्पीड़न भी खतम हो जायगा।

(३)

नयी तालीम के शिक्षण-केन्द्र स्वावलम्बी होने चाहिए

गांधीजी ने 'नयी तालीम' के लिए यह भी जरूरी कहा है कि इसके शिक्षण-केन्द्र स्वावलम्बी होने चाहिए, ताकि स्वावलम्बन की धारणा बच्चों की प्रकृति में, उनके संस्कार और व्यवहार में प्रविष्ट हो जाय। शिक्षण-केन्द्रों को स्वावलम्बी बनाने के लिए बच्चों को इस बात का विचार करना पड़ता है कि वे कौन उपाय करें, जिनसे उनकी शाला स्वावलम्बी हो। इस सिलसिले में उनको यह भी सोचना पड़ता है कि वे अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए किस-किससे सहायता लें। सहायता की यह खोज ही उन्हें सामाजिक सहयोग की ओर प्रेरित करती है।

शाला की व्यवस्था और शिक्षक

इस पद्धति के अनुसार शाला की व्यवस्था भी बच्चों को ही करनी होती है। शिक्षक केवल मार्ग-दर्शक के रूप में रहते हैं। इस तरह बच्चे जब अपनी शाला की सारी व्यवस्था अपने हाथ में ले लेते हैं, तो शाला उनके लिए एक समाज बन जाती है और शिक्षक वहीं के वातावरण को सामाजिक विषयों का ज्ञान कराने के लिए एक सहज माध्यम बना लेते हैं। इस प्रकार बच्चों में आत्म-विश्वास और आपसदारी के संस्कारों का विकास होता है। वे सहयोगी और स्वावलम्बी समाज की उपयुक्त नागरिकता की ओर बढ़ते हैं।

प्राचीन शिक्षण-पद्धति

हमने पहले ही कहा है कि मनुष्य को जब अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अपने आप करनी पड़ती है तो उसकी सामाजिक प्रवृत्तियों का विकास सहज

हो जाता है। लोग कह सकते हैं कि पुराने जमाने में भी स्वावलम्बी उत्पादन-पद्धति थी; फिर लोग परावलम्बी क्यों हो गये ? पहली बात तो यह है कि उस काल में लोग केन्द्रीकरण की बुराइयों से परिचित न थे, इसलिए उन्होंने विकेन्द्रीकरण के वैज्ञानिक आधार पर समाज-व्यवस्था की स्वावलम्बी योजना नहीं बनायी थी। दूसरी बात यह थी कि उत्पादन की प्रक्रिया शिक्षा का माध्यम न होकर अलग से यन्त्रवत् चलती थी और ज्ञान-विज्ञान की चर्चा लोग अलग बैठकर किया करते थे। नतीजा यह हुआ कि उत्पादन का कार्य विज्ञान से शून्य हो गया और उसमें जमाने की आवश्यकता के अनुसार प्रगति न हो सकी; दूसरी ओर ज्ञान-विज्ञान की चर्चा के पीछे व्यावहारिक अनुभव का अभाव हो गया और उसका स्तर गिर गया।

नयी तालीम : वैज्ञानिक एवं प्रगतिशील समाज की एक संयोजित चेष्टा है

गांधीजी ने इस घातक स्थिति के निराकरण के लिए कहा कि यदि स्वावलम्बन तथा विकेन्द्रीकरण के आधार पर समाज की नींव अटल बनानी है, तो उत्पादन की प्रक्रियाओं को सजीव, वैज्ञानिक और प्रगतिशील बनाये रखना जरूरी होगा। नयी तालीम की पद्धति इसी दिशा में एक संयोजित चेष्टा है।

श्रम से बचने की प्रवृत्ति

मनुष्य के लोभ ने केन्द्रीय यन्त्रवाद और उद्योगवाद का प्रसार किया। केवल उपभोग्य वस्तु की प्रचुरता की तृष्णा ही नहीं, बल्कि मनुष्य की एक और प्रवृत्ति ने मशीनों के प्रभाव को बढ़ने में मदद की। वह है मनुष्य की श्रम से बचने की प्रवृत्ति। मशीनों का प्रयोग करके उसने देखा कि थोड़ी मेहनत से ही अधिक उत्पादन हो जाता है। इसने मनुष्य में एक ऐसी प्रबल तृष्णा उत्पन्न की कि वह अपनी सारी बुद्धि इसी दिशा में लगाने लगा।

पूँजीवाद : प्रचुरता की लालसा और मेहनत न करने की इच्छा—इन दो विरोधी बातों के एक साथ होने का दुष्परिणाम है

वस्तुतः श्रम न करने की प्रवृत्ति की कहानी बहुत पुरानी है। इतिहास के प्रारम्भ काल में पारस्परिक हिंसा से त्रस्त होकर मनुष्य ने जब केन्द्रीय शासन-प्रथा की शुरुआत की थी, तभी से समाज में वर्ग या श्रेणियों का बीज पड़ गया था। शासक, व्यवस्थापक और व्यापारी वर्ग की जिन्दगी स्वयं श्रम न करके उत्पादक-वर्ग के श्रम पर चलने लगी। इस प्रकार श्रम करनेवालों से श्रम न करनेवालों की प्रतिष्ठा अधिक होने के कारण श्रम से बचने में शान समझी जाने लगी और ऐसे आलसी लोगों की समाज में प्रतिष्ठा भी होने लगी। श्रम की प्रतिष्ठा खतम हो जाने से श्रम को बचाने की प्रवृत्ति का विकास होना स्वाभाविक था। इस प्रकार एक ओर तो प्रचुरता याने भरे-पूरे रहने की लालसा और दूसरी ओर श्रम से बचने की प्रवृत्ति, इन दो विरोधी बातों के मेल से जिस उद्योगवाद की सृष्टि हुई, उससे पूँजीवादी समाज का विकास हुआ और परिणामतः, वर्ग-विषमता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।

बाबू-वर्ग

केन्द्रीय व्यवस्थापक-वर्ग तथा पूँजीपति-वर्ग के लिए क्रमशः इस बात की आवश्यकता हुई कि उन्हें एक ऐसा वर्ग मिले, जो उत्पादन की प्रत्यक्ष प्रक्रियाओं से छुट्टी पाकर शासन तथा उद्योग-संचालन में सहायता कर सके। इस उद्देश्य से उन्होंने ऐसी शिक्षा-पद्धति बनायी जिसमें शरीर-श्रम तो न करना पड़े, परन्तु व्यक्ति की समाज में प्रतिष्ठा बढ़ जाय (इसे काहिल और कोढ़ियों की पूजन-विधि कह सकते हैं)। ऐसे लोग सिर्फ लिखने-पढ़ने की योग्यता रख सकते हैं और वे यान्त्रिक व्यवस्था के पुर्जे बनने के सिवा दूसरा स्वतन्त्र कर्म कर ही नहीं सकते। इस तरह समाज में पढ़ी-लिखी एक मध्यम श्रेणी यानी बाबू-वर्ग की सृष्टि हुई। ज्यों-ज्यों इस किताबी शिक्षा का प्रसार हो

रहा है त्यों-त्यों इस वर्ग की संख्या बढ़ती जा रही है और आज यह संख्या इतनी अधिक हो गयी है कि संसार में इस बाबू-वर्ग की समस्या ने एक भीषण वर्ग-समस्या खड़ी कर दी है। इस समस्या के हल हुए बिना संसार की समस्याएँ सुलझ ही नहीं सकतीं। गांधीजी 'नयी तालीम' के जरिये इसी दिशा में एक निश्चित और क्रान्तिकारी कदम उठाना चाहते थे।

वस्तुतः सत्य और अहिंसा के आधार पर समाज तभी टिक सकता है, जब दुनिया में कोई किसीका शोषण न करे यानी मानव-समाज में एक ही वर्ग हो, क्योंकि एक वर्ग का दूसरे वर्ग के शोषण से ही वर्ग-विषमता का अस्तित्व कायम होता है। यही कारण है कि भारत के शास्त्रकारों ने कहा है कि सतयुग में एक ही वर्ग था और जब तक फिर से दुनिया में एक ही वर्ग न हो जायगा तब तक सतयुग का पुनरागमन असम्भव है।

समाज ज्यों-ज्यों सत् से विरत होता गया, सामाजिक जटिलता बढ़ती गयी। दूसरी ओर समाज में ज्यों-ज्यों विषमता बढ़ती गयी वैसे ही सत्य का भी लोप होता गया और अन्त में आज संसार एक भयंकर स्थिति में पहुँच गया है। अतः सबसे पहले इस घातक स्थिति का ही अन्त करना है। गांधीजी 'नयी तालीम' के द्वारा यही करना चाहते थे।

श्रेणीहीन समाज

श्रेणीहीन समाज का मतलब तो यही है कि संसार में एक ही श्रेणी का अस्तित्व रहे। फिर सवाल उठता है कि एक श्रेणी कौन-सी हो? हम देखते हैं कि संसार में, मुख्यतः, तीन ही श्रेणियाँ हैं: (१) रईस (श्रीमान्), (२) बाबू और (३) श्रमिक। अगर समाज को श्रेणी-हीन बनाना है तो यह जरूरी है कि इन तीनों में से किन्हीं दो को खतम करके एक को रखा जाय। फिर प्रश्न यह होता है कि इनमें से किसे रखा जाय और किसे खतम किया जाय? उत्तर स्पष्ट है—यदि एक ही वर्ग को रखना है, तो वह वर्ग ऐसा होना चाहिए, जो अपने भरोसे टिक सके। किसी वर्ग के अपने

भरोसे टिकने का मतलब यह है कि वह स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके यानी जिन्दगी की आवश्यकताओं को वह स्वयं पैदा कर सके या यों कि पैदा करने के लिए श्रम कर सके। वह एकमात्र श्रमिकों का वर्ग है। रईस और बाबुओं का अस्तित्व तो श्रमिक के शोषण पर ही खड़ा होता है। इस प्रकार श्रेणी-हीन समाज का मतलब ही यह है कि समाज में केवल वही रहे, जो अपने श्रम से उत्पादन कर सकता हो। इसका सीधा मतलब यही है कि जो लोग शोषण पर जिन्दा हैं, उन्हें खतम कर दिया जाय।

पाश्चात्य देशों में भी लोगों ने इसी प्रकार श्रमिकों के श्रेणी-हीन समाज की कल्पना की है। इस दिशा में उन्होंने काफी चेष्टा भी की है। यह चेष्टा श्रमिकों द्वारा, हिंसात्मक तरीके से रईस और बाबू-वर्ग का नाश करने की थी, क्योंकि उन लोगों ने सोचा कि दो वर्ग का नाश कर देने से सिर्फ तीसरा वर्ग ही समाज में बच रहेगा। लेकिन इस प्रकार वर्ग-संघर्ष के हिंसात्मक तरीके का नतीजा क्या होगा? यह तो बिलकुल सर्वविदित बात है कि हिंसा से प्रतिहिंसा की सृष्टि होती है। हिंसा तथा प्रतिहिंसा के घात-प्रतिघात से मानव-समाज हमेशा छिन्न-भिन्न होता है और समाज अपनी अभीष्ट सुख-शान्ति की आकांक्षाओं में कभी सफल नहीं हो सकता। सुख-शान्ति को तिलाञ्जलि भी दे दी जाय, पर क्या इष्ट सिद्ध हो जायगा? हिंसात्मक तरीकों से क्या शोषक वर्गों का अंत हो सकेगा? जो लोग हिंसात्मक तरीके से इनका नाश करने की सलाह देते हैं वे अपने को बहुत बड़ा वैज्ञानिक समझते हैं, लेकिन वे भूल जाते हैं कि विज्ञान का प्रथम नियम यह है कि **"संसार में किसी चीज का लोप नहीं हो सकता।"** वस्तुओं का सिर्फ रूप-परिवर्तन ही हो सकता है। वैज्ञानिक यूरोप ने ऊपर की श्रेणियों का लोप करने की चेष्टा करते समय विज्ञान के इस मौलिक नियम की उपेक्षा कर डाली और नतीजा यह हुआ कि वहाँ इन वर्गों का नाश न होकर वे परिवर्तित रूप में पूँजीपति का रूप बदलकर व्यवस्थापक-वर्ग के नाम से अपने स्थान पर बने रहे और चूँकि यह परिवर्तन हिंसात्मक तरीकों से हुआ इसलिए स्वभावतः उससे प्रतिहिंसा उत्पन्न हुई।

नयी तालीम : समाज को उत्पादक वर्ग का रूप देती है

प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया अनिवार्य है। इस नवजात व्यवस्थापक-वर्ग ने समाज को बौद्धिक और शासकीय शिकंजों में इतनी कड़ाई से जकड़ रखा है, जैसा कि वह अपने पहले रईस और बाबू के रूप में कभी सोच भी नहीं सकता था। अतएव समाज यदि यह चाहता है कि संसार में उत्पादकों का केवल एक ही वर्ग रह जाय, तो उसको ऐसी व्यवस्था ढूंढ़ निकालनी होगी जिससे शेष दो वर्गों का लोप होकर सारा समाज सीधे स्वयं उत्पादकों के रूप में परिवर्तित हो जाय। गांधीजी नयी तालीम के जरिये समाज को इसी रास्ते पर ले जाना चाहते थे। उनका तरीका उत्पादकों द्वारा रईस और बाबुओं के हिंसात्मक नाश का नहीं, बल्कि वह उनको उत्पादक-श्रेणी में मिला देने का अहिंसात्मक तरीका था। हिंसात्मक तरीकों से कोई किसीको मिला नहीं सकता, क्योंकि सम्मेलन तो प्रेम और सहयोग से ही हो सकता है।

हिंसा : निराशा का प्रमाण

हिंसा से दुनिया में क्रांति नहीं हो सकती। वस्तुतः हिंसा और क्रांति दो परस्पर विरोधी बातें हैं। क्रान्ति का अर्थ है, समूल परिवर्तन। जो मनुष्य परिवर्तन में विश्वास रखता है, वह हिंसा नहीं कर सकता; क्योंकि हिंसा केवल निराशा का प्रमाण है। जिसे यह विश्वास नहीं रह जाता कि लोगों में परिवर्तन हो सकता है, वही नाश की बात सोचता है। इस तरह हिंसा एक निराशावादी प्रवृत्ति है और निराशावादी प्रवृत्ति द्वारा क्रान्ति की सफलता की आशा करना स्वयं को धोखा देना है। अतः समाज में अगर वास्तविक और समूल क्रान्ति करना है, तो वर्ग-संघर्ष की हिंसात्मक और निष्फल चेष्टा न करके वर्ग-परिवर्तन के अहिंसात्मक तरीके से निश्चित क्रान्ति की ओर कदम उठाना होगा।

अहिंसात्मक मार्ग : सच्ची और सम्पूर्ण क्रान्ति का एकमात्र रास्ता

तर्क के खातिर ही सही, अगर थोड़ी देर के लिए हम ऊपर बताये मार्ग को छोड़ दें, तो भी आज के वैज्ञानिक युग में हिंसात्मक तरीके से किसी समस्या का व्यावहारिक समाधान नहीं हो सकता। इस युग में तो हिंसा के द्वारा समस्याओं का हल करने की चेष्टा में मानव-समाज का ही अन्त हो जायगा। पुराने जमाने में जब विज्ञान का आज जैसा अत्यधिक "विकास" नहीं हुआ था, उस समय हिंसात्मक तरीके से मामलों का फैसला करने पर भी समाज के लिए बचत की गुंजाइश थी। पत्थर, डण्डा, धनुष-बाण, तलवार और बन्दूक से भी मनुष्य चाहे जितनी कोशिश करता था, ध्वंस का परिणाम एक हद के अन्दर ही रहता था। लेकिन आज अणुशक्ति और कॉस्मिक शक्ति के जमाने में अगर हिंसा का प्रयोग किया गया, तो उसका परिणाम क्या होगा, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। इस तरह आज के वैज्ञानिक युग में हिंसा की सभी योजनाएँ नितान्त अव्यावहारिक होने के कारण उन पर विचार भी नहीं किया जा सकता। अतएव सच्ची और सम्पूर्ण क्रान्ति के लिए गांधीजी के अहिंसात्मक मार्ग के सिवा कोई दूसरा विश्वसनीय रास्ता रह ही नहीं जाता।

आत्मशुद्धि

ऊपर बताया गया है कि गांधीजी की क्रान्ति का तरीका रईस और बाबुओं को संशोधित करके उत्पादक-श्रेणी में सम्मिलित करने का है। यही कारण है कि उन्होंने अपने तमाम आन्दोलनों को आत्मशुद्धि का आन्दोलन कहा है। इसके लिए पहले तो वह नैतिक तरीके से शोषक वर्ग के विवेक को जाग्रत करते हुए कहते हैं, "तुम शोषक का रूप त्याग कर स्वेच्छा से उत्पादक-श्रेणी में मिल जाओ और उनके साथ उत्पादन के काम में लग जाओ।" अपने रचनात्मक कार्यक्रम की सारी प्रवृत्तियों को गांधीजी ने इसी दिशा में लगाया। ऊँचे वर्ग के नौजवानों को ग्रामीण बनकर अपने श्रम से उपार्जन करके समग्र ग्राम-सेवा का कार्यक्रम तैयार करना, खादी पहनने के लिए अष्टमांश सूत

कातने का नियम बनाना, बम्बई जैसे शहर के लोगों को भी जमीन न मिले तो गमले में ही अपने हाथ से अन्न पैदा करके अन्न ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त करने की सलाह देना, सेवक विद्यालयों में उत्पादक शरीर-श्रम को ही पहला स्थान देना, प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी तरह उत्पादन-कार्य में प्रवृत्त करके उसे श्रमिक-वर्ग में मिला देने की ही गांधीजी की ये सारी चेष्टाएँ थीं।

यों तो गांधीजी के सभी कार्य श्रेणी-हीन समाज की पूर्व-पीठिका स्वरूप रहे हैं, लेकिन "नयी तालीम" के द्वारा दुनिया में केवल उत्पादकों का एक श्रेणी-हीन समाज रखने का जो ढंग है, वह उनकी अन्तिम परन्तु अत्यन्त व्यापक और संयोजित चेष्टा थी।

"नयी तालीम" की बुनियाद

इस शिक्षा-पद्धति में उत्पादन की प्रक्रिया द्वारा ही प्रत्येक विषय की जानकारी होती है, यानी इसमें उन्होंने शिक्षा का माध्यम ही शरीर-श्रम द्वारा उत्पादन कार्य बना दिया है। इस पद्धति में अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए श्रम करते हुए मनुष्य की सारी बौद्धिक शिक्षा पूरी होती है। इसीलिए उसका नाम 'बुनियादी तालीम' रखा गया है, क्योंकि इस पद्धति में जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति की चेष्टा में मनुष्य को अपने स्वाभाविक कार्यों के साथ-साथ आवश्यक ज्ञान प्राप्त होता है।

पुरानी तालीम—श्रेणी परिवर्तन परन्तु उल्टी दिशाएँ

इसका अर्थ यह है कि समाज में वही व्यक्ति शिक्षित कहलाता है जिसमें उत्पादन के कार्यों का अभ्यास हो, यानी जो स्वयं उत्पादक हो। पुरानी तालीम कोठरियों में बैठकर केवल पुस्तकों को घोंटने की पद्धति थी, जिसका परिणाम यह होता था कि बच्चों को विद्यालय में भेजने के लिए उन्हें उत्पादन-कार्य से मुक्त कर देना पड़ता था यानी उत्पादक वर्ग के बच्चे अपनी श्रेणी से छूटकर बाबू-वर्ग की श्रेणी में मिल जाते थे। इस तरह पुरानी तालीम भी श्रेणी परिवर्तन की ही पद्धति थी, लेकिन उल्टी दिशा

में। फलतः पुरानी तालीम की प्रगति के साथ बाबुओं की संख्या बढ़ने लगी और उत्पादकों के कन्धों पर शोषकों का बोझ बढ़ता गया, जिसने आज संसार में वर्ग-विषमता को इतना जटिल बना दिया है। अगर यही रफ्तार रही, तो बहुत जल्द दुनिया में शोषकों की संख्या इतनी बढ़ जायगी कि उनके बोझ से उत्पादक दबकर मर जायगा और उत्पादक के मरने से बाबू लोग भी सूखकर मर जायेंगे।

नयी तालीम से बाबुओं का ह्रास होकर उत्पादकों की वृद्धि होती है; क्योंकि यह शिक्षा-पद्धति हल, कुदाल, चर्खा तथा निहाई और हथौड़ी के साथ जुड़ी होने के कारण प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति सहज ही उत्पादक बन जाता है और प्रत्येक उत्पादक को अपना उत्पादन कार्य करते हुए ही शिक्षित बन जाने का मौका मिलता है। इस तरह जब बौद्धिक-वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादक बनना पड़ता है और प्रत्येक उत्पादक को बौद्धिक विकास का संपूर्ण अवसर मिलता है, तो समाज में वर्ग-भेद स्वतः समाप्त हो जाता है। इस क्रम से हिंसात्मक संघर्षों के अशान्तिकर दलदलों में फँसने की आवश्यकता ही नहीं होती।

श्रम बनाम श्रेणी विभाजन—जन्मना या कर्मणा ?

आजकल जो लोग श्रेणी-हीन समाज की बातें करते हैं, वे स्वयं शुद्ध बौद्धिक-वर्ग के ही जीव हैं, लेकिन धोखा तो यह है कि वे अपने को श्रमिक-वर्ग का ही एक सदस्य मानते हैं। उनका कहना है कि आखिर सभी लोग सब काम स्वयं नहीं कर सकते और समाज में श्रम-विभाजन की आवश्यकता तो है ही। अतएव जो लोग किताब लिखते हैं, भाषण करते हैं या ऐसे ही दूसरे बौद्धिक श्रम करते हैं तो फिर शरीर-श्रम पर ही क्यों जोर दिया जाय! इन लोगों की दलील है कि यह भी उत्पादन ही है। इस तरह वे कहते हैं कि कोई बौद्धिक श्रम और कोई शरीर श्रम को अपनाये। इस बात को वे श्रेणी-विभाजन न कहकर श्रम-विभाजन कहते हैं। उनका कहना है कि जो लोग बौद्धिक कार्यक्रम में लगे हैं, उन्हें शरीर-

श्रम में फँसाकर समय और शक्ति का अपव्यय करने से क्या लाभ! वे कहते हैं कि जो बौद्धिक कार्य के लायक हैं वे बौद्धिक श्रम करें और जो शरीर-श्रम के लायक हों वे शरीर-श्रम करें। ऐसा करने से ही, उनकी राय में, समाज श्रेणी-हीन हो जायगा। आश्चर्य की बात यह है कि वे ही लोग भारत के प्राचीन वर्णभेद की प्रथा के सबसे अधिक खिलाफ हैं। वे कहते हैं कि वर्ण-व्यवस्था एक प्रतिगामी व्यवस्था है। इससे समाज की प्रगति रुक जाती है। वे समाज को ब्राह्मण या शूद्र की श्रेणियों में बाँटने के घोर विरोधी हैं। बौद्धिक कार्यक्रम करनेवालों को शरीर-श्रम की आवश्यकता नहीं और उनके व्यक्तिगत आराम और दूसरे कार्यों के लिए दूसरे लोगों को मुकर्रर किया जाय जो इसके लायक हों। यह ब्राह्मण और शूद्र का दूसरा रूप नहीं तो क्या है? फर्क सिर्फ इतना है कि आजकल लोग वर्णभेद को जन्मना न मानकर कर्मणा मानते हैं। लेकिन वे भूल जाते हैं कि अगर श्रमिक को बौद्धिक और शारीरिक दो श्रेणी में बाँटना ही है तो समाज की प्रगति के लिए जन्मना श्रेणी ही अधिक वैज्ञानिक होगी, क्योंकि उससे समाज को पूर्णरूपेण पैतृक संस्कार का लाभ मिल सकेगा। हो सकता है कि कोई एकाध व्यक्ति अपवाद रूप में ऐसा प्रतिभावान निकले जिसके लिए यह पद्धति अन्याय का रूप हो, लेकिन समाज की वैज्ञानिक व्यवस्था एकाध अपवाद की ओर न देखकर सारे समाज के हित को ही देखेगी।

वस्तुतः यह धारणा गलत है कि बौद्धिक और शारीरिक श्रम करने-वाले एक ही श्रेणी में रखे जा सकते हैं; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य यह जानता है कि इन दो प्रकार के श्रमों में एक रुचिकर और दूसरा अरुचिकर है और रुचिकर श्रम ही श्रेष्ठ है। अतः प्रत्येक मनुष्य चाहेगा कि उसे रुचि-कर श्रम का ही मौका मिले। इसलिए अगर समाज को अरुचिकर श्रम की भी आवश्यकता है, तो उसे यह काम व्यवस्था या परिस्थिति के दबाव से ही लेना होगा; क्योंकि स्वेच्छा से कोई भी उस काम को पसंद नहीं करेगा। आज के पैसे के लोभ या परिस्थिति की मजबूरी से भी भंगी का काम करने के लिए उच्च वर्ण के लोग तैयार नहीं होते। अतः अगर समाज में न्याय

और स्वतंत्रता के आधार पर श्रमिक का एक ही वर्ग कायम रखना है, तो प्रत्येक व्यक्ति को बौद्धिक और शारीरिक, दोनों काम करने होंगे।

अगर मजबूरन ब्राह्मण और शूद्र की दो श्रेणी कायम रखना है, तो मानव विकास के एक मूल सिद्धान्त का फायदा समाज की प्रगति के लिए क्यों न प्राप्त हो? यह "सन्तान को पैतृक स्वभाव की प्राप्ति" या संस्कारों का सिद्धान्त है। किसी शिक्षित परिवार का पाँच साल का लड़का स्कूल जाकर किसान और मजदूर के उसी उम्र के लड़के से पढ़ने में हमेशा आगे ही रहता है और किसी किसान और मजदूर का लड़का उसी उम्र के शिक्षित श्रेणी के लड़के से खेत खोदने में या बोझा उठाने में आगे रहता है; क्योंकि दोनों में पैतृक संस्कार की भिन्नता है। अतः बौद्धिक और शारीरिक श्रमिकों के रूप में समाज के लोगों को बाँटना है, तो हित उसीमें है कि वह जन्मगत हो। "जन्मना" ही वैज्ञानिक सिद्धान्त है। अतः जो लोग जाति-भेद के खिलाफ हैं, उन्हें श्रम के श्रेणी-विभाग के भी खिलाफ होना पड़ेगा। क्योंकि यदि श्रम का श्रेणी-भेद रखना है, तो "जन्मना" का सिद्धान्त हटाकर "कर्मणा" के सिद्धान्त की बात करना समाज को योग्यता और कुशलता से वंचित कर देना होगा।

श्रेणीहीन समाज का श्रमविभाग

लोग प्रश्न कर सकते हैं कि बिना श्रम-विभाजन के फिर समाज का उत्पादन-कार्य कैसे चलेगा? यह सही है कि प्रत्येक व्यक्ति अकेला प्रत्येक काम नहीं कर सकता। अतः श्रम-विभाजन का कुछ आधार होना ही चाहिए। वास्तविक श्रेणीहीन समाज में वह आधार गुणसंबंधी न होकर वस्तुसंबंधी होगा यानी कोई किसी वस्तु को पैदा करेगा, तो कोई दूसरी वस्तु को। लेकिन उत्पादन-कार्य में तो प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक और बौद्धिक, दोनों श्रम करने होंगे। श्रम-विभाजन के नाम पर किसी को टट्टी फिरने का श्रम और किसी को उसे साफ करने के श्रम की जो प्रथा चल गयी है, गांधीजी की कल्पना के श्रेणीहीन समाज में इसकी गुंजाइश नहीं है। उनकी कल्पना के अनुसार

श्रेणीहीन समाज में प्रत्येक व्यक्ति को बौद्धिक और शारीरिक श्रम, दोनों ही करने पड़ेंगे, नहीं तो यह सिद्धान्त कोरी बात ही रह जायगी। इस प्रकार श्रेणी-हीन समाज-रचना की दिशा में भी गांधीजी की 'नयी तालीम' का तरीका दूसरे सभी तरीकों से अधिक व्यावहारिक, वैज्ञानिक और वास्तविक है।

(४)

समान अवसर का सच्चा मतलब

शिक्षित समाज में इधर 'समान अवसर' का नारा चल पड़ा है। कहते हैं कि शिक्षा के लिए प्रत्येक मनुष्य को बराबर मौका मिले। अगर शिक्षा की पद्धति ऐसी हुई कि मनुष्य को उत्पादन का कार्य छोड़ देना पड़े, तो प्रत्येक को शिक्षा का मौका देने का मतलब यह होता है कि हर व्यक्ति को उत्पादन-कार्य छोड़ देने का मौका दिया जाय। इसका मतलब यह है कि प्रत्येक व्यक्ति शिक्षाकाल की समाप्ति के बाद ही उत्पादन-कार्य में लगे। फिर शिक्षा-समाप्ति के बाद लोगों को इस बात का कभी समान अवसर देना होगा कि वे अपने लिए स्वेच्छा से रुचिकर या अरुचिकर श्रम को पसन्द करें। इससे लोग किस ओर झुकेंगे, यह प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है। यदि सभी लोग अपनी शिक्षा के अनुसार रुचिकर श्रम की ओर झुकेंगे, तो क्या समाज इसके लिए समुचित व्यवस्था कर सकेगा? इस प्रकार उत्पादन-कार्य समाप्त हो जाने से समाज का काम कैसे चलेगा? लोग कहते हैं कि हम इस बात को बहुत दूर तक खींच ले गये। समान अधिकार का मतलब यह नहीं है कि ख्वाहमख्वाह सब लोग अधिकार का इस्तेमाल करके शिक्षा के क्रम को पूरा ही कर दें। बहुत से ऐसे लोग होंगे जो शिक्षा की ओर जायँगे ही नहीं, या कुछ दिन बाद पढ़ाई छोड़कर हल चलाने लगेंगे। स्वभावतः शायद ऐसा ही होगा। लेकिन इसका कारण यह नहीं होगा कि अधिकांश लोगों की रुचि ही पढ़ाई की ओर नहीं, बल्कि अगर वे पढ़ने नहीं जाते, तो इसका कारण परिस्थिति की

मजबूरी ही है और अगर परिस्थिति की मजबूरी के कारण कोई पढ़ने नहीं जाता, तो समान अवसर की बात कहाँ रही? अतः अगर समान अवसर देना है, तो पद्धति ऐसी बनानी होगी कि जिससे प्रत्येक मनुष्य अपनी मौजूदा परिस्थिति में रहकर भी शिक्षा का अवसर पा सके।

आज प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति की जबान से एक दूसरी बात भी सुनायी पड़ रही है। वह यह कि शिक्षा अनिवार्य की जाय। अगर शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय, तो उसका मान इतना होना चाहिए कि जिससे बाद को उसकी शिक्षित स्थिति कायम रह सके, यानी उसे १५ साल की उम्र तक तो शिक्षा देनी ही चाहिए। १५ साल की उम्र तक पाठशाला की कोठरी में बैठकर किताब पढ़ने के बाद, जब वह अपने खेत का हल पकड़ेगा तब उसकी क्या दशा होगी, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। मौलिक उत्पादन की प्रक्रिया का अभ्यास बचपन से हुए बिना उस काम में कुशलता तथा गति भी नहीं आ सकती। अतः यह साफ है कि पुरानी पद्धति से १५ साल की उम्र तक स्कूलों में पढ़ने के बाद ही प्रत्येक आदमी को उत्पादन-कार्य में लगने से मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव नहीं है।

विकेन्द्रित समाज में उत्पादन-कार्य के अभ्यास की बचपन से ही आवश्यकता

दूसरे औद्योगिक मुल्कों में जहाँ यन्त्रों से ही उत्पादन होता है, वहाँ यन्त्रचालक को हाथ, आँख और दिमाग चलाकर उत्पादन नहीं करना पड़ता। वहाँ चालक भी यन्त्र का पुर्जा बनकर चलता रहता है। वहाँ बचपन से अभ्यास का कोई सवाल ही नहीं उठता। अतः वहाँ इस प्रकार पढ़ाई के बाद भी यन्त्र चलाना सम्भव हो जाता है। लेकिन गांधीजी के विकेन्द्रित और स्वावलम्बी समाज में उत्पादन-कार्य के लिए बचपन से उत्पादन की वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का अभ्यास अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब उन प्रक्रियाओं को शिक्षा का माध्यम बना दिया जाय।

बापू की 'नयी तालीम' विश्व की श्रेष्ठतम पद्धति

अगर दुनिया के सारे उत्पादन-कार्यों का सुचारु रूप से संचालन करते हुए एक श्रेणी-हीन समाज बनाना है, तो यह जरूरी है कि प्रत्येक मनुष्य उत्पादन-कार्य करते हुए बौद्धिक विकास कर सके, वरना जन-हित के सारे सिद्धान्त जनता का वोट पकड़ने के लिए कोरे राजनीतिक नारे रह जायँगे। उन्हें व्यवहार में लाना या वास्तविक रूप देना सम्भव नहीं होगा। अतएव अगर हमारा ध्येय संसार मे शासन-हीन और श्रेणी-हीन समाज की रचना करना है, अगर मानवता को हिंसा और शोषण से मुक्त करके पूर्णतः स्वतंत्र बनाना है, तो उसके लिए बापू की बताई हुई 'नयी तालीम' के सिवा शिक्षा का दूसरा व्यावहारिक और वैज्ञानिक तरीका अब तक किसी ने बताया ही नहीं ।



परिशिष्ट—१

नयी तालीम के प्रयोग और परिणाम

प्रश्न यह है कि यह नयी तालीम की प्रवृत्ति चले कैसे ? उसका स्वरूप क्या हो ? और किस दृष्टि से उसका संगठन किया जाय ? शिक्षा-पद्धति कैसी हो ? इसका निर्णय करने की दो दृष्टियाँ होती हैं। एक दृष्टि यह है कि किस तरीके से तालीम दी जाय, जिससे बच्चों के दिमाग पर कम-से-कम बोझ डालते हुए, उन्हें आसानी से विषयों की जानकारी करायी जा सके। दूसरी दृष्टि यह है कि बचपन से ही ऐसे तरीके से तालीम दी जाय कि बालकों का मानस सामाजिक क्रांति की दिशा में सहज ही बढ़ता रहे। तालीम के तरीके में वे लोग भी हेरफेर करते रहते हैं, जिनके मन में समाज-व्यवस्था में हेरफेर करने का कतई विचार नहीं रहता। उनकी दृष्टि पहले प्रकार की है। वे केवल शिक्षण की सहूलियत का विचार करते हैं। इस दृष्टिकोण के फलस्वरूप किंडरगार्टन, मॉंटेसरी, डाल्टन तथा प्रोजेक्ट-पद्धति का आविष्कार हुआ। इन शिक्षा-पद्धतियों के आविष्कारकों के विचार में समाज के आमूल परिवर्तन का कोई प्रश्न नहीं था। वे इतना ही सोचते थे कि किस तरह बच्चों को आसानी से दुनिया के ज्ञान-भण्डार से अवगत कराया जाय।

एक ओर संसार के शिक्षा-शास्त्री तालीम को गहरी करने के उद्देश्य से नयी-नयी शिक्षा-पद्धतियों पर विचार कर रहे थे; और दूसरी ओर गांधीजी तालीम के मसले पर दूसरे दृष्टिकोण से अपने ढंग से सोच रहे थे। गांधीजी के सामने शिक्षार्थियों के लिए वास्तविक मनोविज्ञान के आधार पर तालीम का सहज तरीका ढूँढ़ना मात्र ही काम नहीं था। इस बात का चिन्तन तो उन्हें था ही; लेकिन उनके लिए उससे भी ज्यादा महत्त्व की बात यह थी कि किस तरह नये समाज के लिए नये मानव का निर्माण हो। अहिंसक समाज के लिए शासन-हीन तथा वर्गहीन समाज कायम करना जरूरी है; इस सिद्धान्त को सामने रख-कर उन्हें तालीम का तरीका ढूँढ़ना था।

नयी तालीम के दृष्टिकोण

जिस तरह १९२१ मे गाधीजी के साथियों ने चरखे को विभिन्न दृष्टि से अपनाया था; उसी तरह वे १९३८ मे भी नयी तालीम को अपने अपने दृष्टि-कोण से देखने लगे। किसी ने उसे शिक्षण-कला को वास्तविकता के साथ जोड़ने का जो विचार चलता आ रहा था, उसीके एक अगले कदम मात्र रूप मे सोचा है। (वस्तुतः सारे संसार के शिक्षा-शास्त्रियों ने इसे इसी दृष्टि से देखा।) किसी ने इसे देश की आजादी के सग्राम की दिशा मे आगे बढ़ने के लिए जन-सम्पर्क स्थापित करने का एक विस्तृत साधन समझा। कुछ लोगों ने तो इसे चरखा चलाने का एक नया बहाना माना। थोडे ऐसे लोग भी जरूर थे, जो इसे नयी क्रान्ति के वाहन के रूप मे देख सकते थे। लेकिन उनकी संख्या नगण्य थी।

क्रमशः शिक्षा-शास्त्रियो ने भी महसूस किया कि शिक्षा को वास्तविक रूप देने की दिशा मे यह एक बड़ा कदम है और इसके पक्ष मे अपनी राय जाहिर करने लगे। देश के नेताओ ने गाधीजी को भले ही पागल समझा, परन्तु शास्त्रियों की बात वे नहीं टाल सके। अस्तु, वे नयी तालीम के प्रचार पर विचार करने लगे। कई प्रान्तो मे काग्रेस का मन्त्रिमण्डल होने के कारण, सरकारी तौर पर भी जगह-जगह बुनियादी शिक्षा का प्रयोग होने लगा और आखिर मे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद इसके प्रसार की प्रगति कुछ बढ़ी।

नयी तालीम व्यापक क्यों न हो सकी

यह सब हुआ। लेकिन शिक्षण कला का प्रयोग मात्र मानने के कारण, किसी सरकार को इसके व्यापक प्रसार के हेतु जोश नही रहा। उन्होने इसे कही-कहीं चलाकर पुराने तरीके से इस तरीके का तुलनात्मक अध्ययन मात्र करना चाहा। नयी तालीम के पीछे नव-समाज-निर्माण की जो निश्चित धारणा थी, उस पर आस्था न होने के कारण, वे इससे अधिक और कुछ नही सोच सके। यही कारण है कि अगरेजी-राज के समय देश के जिन नेताओ ने उसकी

चलाई हुई पद्धति को मुल्क के लिए घातक माना था, उन्हें आजादी हासिल करने के बाद, इस घातक पद्धति को रद्द करना तो अलग रहा, उसके अत्यधिक प्रसार की प्रगति को रोकने की भी हिम्मत नहीं हुई; हालाँकि वे आज भी इस तालीम की बुराई की गाथा गाने का कोई मौका नहीं छोड़ते। पुरानी तालीम से सन्तोष नहीं, नयी तालीम पर आस्था नहीं, किसी तीसरे तरीके की कल्पना नहीं; ऐसी हालत में वे लाचार रहे। और "जैसा चलता था वैसा चलता रहे" के सुगम रास्ते पर पुराने रूढ़िग्रस्त शिक्षा-शास्त्रियों के हाथों में तालीम को छोड़ कर निश्चिन्त रहे।

नयी तालीम के वेश में पुरानी तालीम

नयी तालीम के लिए लोगों पर गांधीजी के व्यक्तित्व का असर है। उसे कुछ स्वतन्त्र विचारक व शिक्षा-शास्त्रियों की मान्यता भी हासिल है। अतः विभिन्न राज्यों की सरकारों ने पुरानी तालीम को ही राजकीय शिक्षा की रीढ़ मानते हुए भी, अपने कार्यक्रम की सूची में बुनियादी तालीम के नाम को भी कहीं-कहीं स्थान दिया है। इसका स्थान भी उसी तरह का है, जिस तरह सरकारी आर्थिक योजना में केन्द्रित वृहत् उद्योगों के मुकाबले में खादी और ग्रामोद्योग का है। जिस तरह राष्ट्र की मूल आर्थिक नीति केन्द्रित औद्योगीकरण को रखते हुए थोड़ा-बहुत खादी और ग्राम-उद्योग चलाने के कारण वे (खादी, ग्राम-उद्योग) पनप नहीं सके, उसी तरह राष्ट्रीय शिक्षा-नीति पुरानी तालीम के होते हुए कहीं-कहीं बुनियादी शाला चलाने से नयी तालीम पनप नहीं सकी। केवल पनप नहीं सकी, ऐसी बात नहीं। जो कुछ भी बुनियादी तालीम का काम चल रहा है; पुराने रूढ़िग्रस्त शिक्षा-शास्त्रियों के संचालन और परिचालन में रहने के कारण, रह-रह कर उसमें आमूल परिवर्तन करने की कोशिश होती रहती है, जिससे वह नयी तालीम की पोशाक में वस्तुतः पुरानी तालीम ही रही।

नयी तालीम का नतीजा

देश में व्यापक रूप से जो बुनियादी शिक्षा चल रही है, वह जनता की दृष्टि

आकर्षित नहीं कर सकी ; बल्कि आकांक्षित नतीजे की ओर न चल सकने के कारण वह निश्चित रूप से बदनाम हो रही है। शुरू में ऐसी बात नहीं थी। जिस समय गांधीजी द्वारा नयी तालीम के सिद्धान्त तथा जीवन-दर्शन की बात की गयी थी, उस समय जनता ने उसका बड़े प्रेम से स्वागत किया था। यही कारण था कि बिहार की राज्य-सरकार ने जब यह एलान किया कि जिस गाँव के लोग बुनियादी शाला के लिए आवश्यक भूमि का दान देंगे, उसी गाँव में वह खोली जायगी, तब राज्य के देहातों से इतने अधिक दान-पत्र आने लगे कि उतनी संख्या में शालाएँ खोलना राज्य सरकार की शक्ति के करीब-करीब बाहर की बात हो गयी। लेकिन कुछ दिन चलने के बाद लोग निराश होने लगे। उन्होंने देखा कि पुरानी तालीम के अनुसार किताबी पढ़ाई बन्द हुई, लेकिन बच्चों में किसी प्रकार के नवीन जीवन की उमंग दृष्टिगोचर नहीं हुई। किसी उत्पादक उद्योग में वे कुशल नहीं हुए और न पुस्तक-ज्ञान ही प्राप्त कर सके। नतीजा यह हुआ कि वे किसी काम के नहीं हुए। ऐसा क्यों हुआ, इस पर गम्भीर विचार करना चाहिए।

एकांगी गुण-ग्रहण

हमने पहले ही कहा है कि नयी तालीम के बुनियादी तत्त्व को छोड़कर सरकार तथा देश के शिक्षा-जगत् ने उसके बाह्य रूप को ही अपनाया है। यानी लोगों ने शिक्षण-कला की सहूलियत की दृष्टि से ही इस पद्धति को ग्रहण किया है। किसी वस्तु की चेतन आत्मा को छोड़कर जड़-देह को अपनाने से जो दशा होती है, देश में नयी तालीम की भी वही दशा हुई। वास्तविकता के साथ ज्ञान-प्राप्ति को जोड़ने की चेष्टा में पहले जिन पद्धतियों का आविष्कार हुआ था, उनमें प्रत्यक्ष वास्तविक जीवन के अनुभव-प्राप्ति के माध्यम की कल्पना न होकर, वास्तविक वस्तुओं के उदाहरण से समझाने की कल्पना थी। यह बात शिक्षण मनोविज्ञान की दृष्टि से अधूरी थी। आज जगह-जगह जिस ढंग से नयी तालीम चलायी जा रही है, उसे देखने से यही प्रतीत होता है कि

इसी मनोवैज्ञानिक पूर्णता को देखकर ही शिक्षा-शास्त्री तथा सरकारी विभाग इसकी ओर आकृष्ट हुए हैं। लेकिन केवल इतने से ही नयी तालीम की उद्देश्य-पूर्ति नहीं होती है, बल्कि एकांगी स्वरूप के कारण वह विकलांग होकर समाज जीवन को पंगु कर दे सकती है। यही कारण है कि विनोबाजी ने नयी तालीम पर अपना विचार प्रकट करते हुए कहा है :

"आज नयी तालीम का जो गुण-ग्रहण हुआ है और हो रहा है, वह इतना एकांगी है कि उसे उस आधार पर स्वीकार किया जाना खतरे से खाली नहीं है।"

वस्तुतः नयी तालीम को ग्रहण करने में जहाँ वास्तविक जीवन-अनुभव के लाभ की बात सोची गयी, वहाँ उसके अमल में मुल्क की वास्तविक परिस्थिति के साथ कोई सामंजस्य नहीं रखा गया। अर्थात् उसे वास्तविकता से ही दूर रखा गया। इसलिए सामान्य शिक्षण-कला की दृष्टि से भी वह अव्यावहारिक हो गया।

शिक्षा-मनोविज्ञान की दृष्टि से वास्तविक क्रम-प्रक्रिया को केन्द्र मानकर ज्ञानप्राप्ति के तरीके को उत्तम माना गया है। इस सिद्धान्त को नजर में रखकर जब गांधीजी की बुनियादी शिक्षा को देश के कर्णधार अपनाने लगे, तो उस समय वे भूल गये कि जिस क्रम-प्रक्रिया को गांधीजी ने शिक्षा के माध्यम के रूप में रखा था, उस क्रम को ही उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

गांधीजी ने दस्तकारी को शिक्षा की बुनियाद माना था। लेकिन देश के नेताओं ने राष्ट्रीय जीवन में दस्तकारी का कोई स्थान नहीं रखा। अगर कुछ माना भी तो, उसे आर्थिक जिन्दगी का केन्द्र न मानकर एक खिलौने के रूप में ग्रहण किया। यही कारण है कि नयी तालीम राष्ट्रीय-जीवन की बुनियाद न बनकर महज एक तमाशे की चीज रह गयी!

राष्ट्रीय अर्थनीति का प्रभाव

आखिर शिक्षा-केन्द्र में जो विद्यार्थी तालीम पावेंगे, वे अपने भविष्य की चिन्ता तो करेंगे ही। वे देखते हैं कि बारह वर्ष तक जिन दस्तकारियों का अभ्यास

कराया जाता है, राष्ट्रीय अर्थनीति में उसका कोई स्थान नहीं है। जहाँ दस्तकारी का ही स्थान नहीं है, वहाँ दस्तकार की जगह कहाँ? यह उनकी समझ में नहीं आता है। इसलिए वे मानते हैं कि इस प्रकार के दस्तकारी के अभ्यास से उनके जीवन का भविष्य अन्धकारमय है। ऐसे अन्धकारमय भविष्य की ओर बढ़ने में भला, किसको दिलचस्पी हो सकती है? नतीजा यह होता है कि बुनियादी शाला के अभ्यासक्रम के अनुसार उत्पादन की प्रक्रिया सीखने में किसी विद्यार्थी का दिल नहीं लगता और न शिक्षक को ही उसमें रस मिलता है। समाज में जिस वस्तु का स्थान ही नहीं है, उसके लिए दिलचस्पी न होना स्वाभाविक है।

आर्थिक ढाँचा और नयी तालीम

ज्ञान-प्राप्ति के माध्यम रूपी श्रम-प्रणाली को ही अस्वीकार कर उसमें दिलचस्पी न लेने के कारण, उस श्रम में से निकले इस ज्ञान की आशा करना दुराशा मात्र है। यही कारण है कि आज की बुनियादी शाला के उत्तीर्ण छात्र न सफल कारीगर ही बनते हैं और न किसी विषय का ज्ञान ही प्राप्त कर पाते हैं; क्योंकि जब बुनियादी तालीम की बुनियाद में ही कोई तथ्य नहीं रह गया, तो आगे के ज्ञान की गुन्जाइश ही कहाँ! वस्तुतः सरकारी शिक्षा-योजना में बुनियादी शिक्षा-पद्धति से जिस लाभ को अपनाने की कोशिश की गयी है; आज राजनीतिक तथा आर्थिक ढाँचे के अन्दर मेल न बैठने के कारण वह लाभदायक न होकर हानिकारक हो रही है। शिक्षा-प्राप्ति का उद्देश्य तो सफल होता ही नहीं। उल्टे राष्ट्र का श्रम तथा सम्पत्ति का अपव्यय होता है। शिक्षा के माध्यम के रूप में दस्तकारी का इन्तजाम सरकार की ओर से शालाओं में किया जाता है, इस आशा से कि उत्पादन के द्वारा आमदनी से सरकार पर शिक्षा का बोझ कम होगा। लेकिन नतीजा उल्टा होता है। उत्पादन की आमदनी तो दूर रही, अनिच्छा-पूर्वक कर्म करने के कारण उत्पादन के साधन में जो पूँजी लगायी जाती है, वह भी बरबाद होकर खतम हो जाती है। फलतः यह

शिक्षा स्वावलम्बी न होकर पुरानी तालीम से भी अधिक खर्चीली हो जाती है। यही कारण है कि देश के प्रधान मंत्री, पंडित जवाहरलाल नेहरू जब कभी नयी तालीम की बात सोचने लगते हैं, तो उसके व्यय को देखकर घबरा जाते हैं। क्योंकि जब वे हिसाब लगाने लगते हैं, तो उनको दीखता है कि देश भर में नयी तालीम चलाने के लिए भारतीय सरकार की आमदनी अपर्याप्त होगी।

समाज-जीवन की गलत धारणा

व्यापक नयी तालीम के विफल होने का एक दूसरा भी कारण है। वह है, समाज-जीवन के मूल्यांकन की सही धारणा का न होना। नयी तालीम समाज में एक नये मूल्य की स्थापना करना चाहती है। वह शोषण-हीन समाज स्थापित करने के उद्देश्य से वर्ग-विषमता दूर कर एक नये मानव की सृष्टि करना चाहती है। यह तब तक नहीं हो सकता, जब तक देश का उत्पादक वर्ग भूखा मरता रहे और कुछ ऊपर के लोग उन्हीं के श्रम-उत्पादित द्रव्य को बटोरकर शान-शौकत से रहने में अपनी तथा मुल्क की प्रतिष्ठा मानते रहें। देश के कर्णधार स्पष्ट कहते हैं कि जब तक मुल्क के प्रतिनिधि, इन्तजामकार तथा राजदूत शान-दार तरीके से नहीं रहेंगे, तब तक मुल्क की प्रतिष्ठा कायम नहीं रह सकती। प्रतिष्ठा की इस धारणा की मान्यता रहते हुए देश का एक भी बच्चा स्वावलम्बी जीवन बिताने का इच्छुक नहीं हो सकता। जब वह तालीम लेने जाता है, तब उसके दिल में इसी बात की उमंग होती है कि तालीम पाने के बाद उसे प्रतिष्ठा मिलेगी। स्वभावतः उसे प्रतिष्ठा की धारणा उन्हीं लोगों से मिलेगी, जिन्हें मुल्क प्रतिष्ठित मानता है। यही कारण है कि आज न बच्चों का पालक और न बच्चे खुद नयी तालीम के प्रति आकर्षित होते हैं; क्योंकि देश का नेतृत्व, नयी तालीम के पीछे रहे हुए मूल्यांकन को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा नहीं करता; बल्कि उसे हेय दृष्टि से देखता है, जैसा कि उनके समय-समय के एलानों से हमें मालूम होता रहता है। यही कारण है कि जब इधर कुछ दिनों से मुल्क के बड़े लोग देश की बेकारी तथा अनुशासनहीनता से परेशान होकर जोरों

हमारे सामने आते हैं। एक, इसका सामाजिक उद्देश्य और दूसरा, शिक्षण-कला। वस्तुतः देश और दुनिया के शिक्षण-शास्त्रियों ने बुनियादी तालीम की जो तारीफ की है, वह इसके शिक्षण-कला के पहलू को देखकर ही। इसे समझने के लिए हमें शिक्षा-पद्धति के इतिहास पर भी थोड़ा गौर करना चाहिए। पुराने जमाने में तालीम का तरीका था, विविध शास्त्रों को कण्ठस्थ करना। हमारे देश में पुरानी मान्यता "आवृत्तिः सर्व-शास्त्राणां बोधादपि गरीयसी"—सब शास्त्रों की आवृत्ति समझने से भी अच्छी है—की थी। फिर लोगों ने देखा कि इस तरीके से तालीम पाने पर लोग पण्डित तो हो जाते हैं, लेकिन मनुष्य का बौद्धिक विकास ठीक-ठीक नहीं हो पाता। इसलिए फिर पढ़ाने का तरीका निकला। उससे कुछ लाभ हुआ और कुछ दिन यह तरीका चला। लेकिन मानव प्रगतिशील है। उसे इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ। उसने सोचा कि केवल किताब पढ़ने से ही बुद्धि का विकास पर्याप्त नहीं हो पाता है। फलतः शिक्षण-कला में वास्तविकता (प्रत्यक्ष-दर्शन) के माध्यम से ज्ञान-प्राप्ति की कल्पना की गयी और अधिक-से-अधिक प्रगति वास्तविकता की ओर बढ़ने की रही। चित्रों के माध्यम से सिखाने का आरम्भ हुआ, फिर लोग प्रतिमूर्त्ति पर आये। आगे चलकर किस्म-किस्म के "प्रोजेक्ट" का आविष्कार हुआ। आखिर में कर्म की मार्फत शिक्षण की बात भी सोची गयी।

यह सब होता रहा। लोग चाहे जितनी वास्तविकता की बात करते रहे हों, पर व्यवहार में वे वास्तविक जीवन की नकल की ही बात सोचते थे। कर्म द्वारा शिक्षा प्राप्त करने की पद्धति में भी वास्तविक जीवन-संघर्ष के माध्यम की कल्पना नहीं हो सकी थी। गांधीजी ने मानव-समाज को इसी वास्तविकता की माध्यम-प्राप्ति में एक सम्पूर्ण वैज्ञानिक तथा वास्तविक दृष्टि दी। उन्होंने कहा कि अगर वास्तविकता चाहिए, तो वह नकली नहीं, असली होनी चाहिए। यही कारण है कि जब सोलह वर्ष पहले गांधीजी ने दुनिया को बुनियादी शिक्षा का सन्देश सुनाया, तब संसार भर के शिक्षा-शास्त्री उसके प्रति आकर्षित हुए और उन्होंने उसका स्वागत किया।

शिक्षा का मूल उद्देश्य

लेकिन शिक्षण-कला ही शिक्षा का उद्देश्य नहीं होता; वह तो एक तरीका मात्र है। शिक्षा का असली मकसद तो सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति ही है। शिक्षा द्वारा मनुष्य ऐसा व्यक्ति पैदा करना चाहता है, जो समाज का सही नागरिक बन सके। यही कारण है कि युग-युग में सामाजिक ढाँचों के अनुसार ही शिक्षा की कल्पना की गयी है। प्राचीन भारत में वर्णाश्रम के आधार पर समाज-व्यवस्था चलानी थी, तो उस समय की शिक्षा-पद्धति भी उसीके अनुसार बनायी गयी। जब अँगरेज भारत में आये, तब उनका सामाजिक उद्देश्य दूसरा था। वे इस देश को एक उपनिवेश बनाना चाहते थे, अतः उन्होंने देश की शिक्षा-पद्धति उसी किस्म की बनायी। लार्ड मैकाले साहब ने यह स्पष्ट रूप से कह दिया था कि इस शिक्षा के नतीजे से इस देश के लोगों की शकल-सूरत तो भारतीय ही रहेगी, लेकिन उनकी भावना, रुचि तथा विचारधारा यूरोपीय हो जायगी। आज अंगरेजों के चले जाने के बाद भी, जब हम शिक्षित भारत की ओर नजर डालते हैं, तो लार्ड मैकाले साहब के इस उद्देश्य की सार्थकता स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।

क्रिया की प्रतिक्रिया

गांधीजी ने भी समाज-रचना की एक नयी कल्पना की थी। वे संसार में एक अहिंसक समाज बनाना चाहते थे। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक था कि समाज की जिन संस्थाओं के कारण मानव-हृदय में निरन्तर हिंसा का उद्भव हुआ करता है, उनका तिरोधान हो। यह बात तो स्पष्ट है कि जब तक समाज में शासन और शोषण का अस्तित्व रहेगा, तब तक दुनिया हिंसा से मुक्त नहीं हो सकती। शासन की शक्ति दण्ड-शक्ति है। उसे मनुष्य द्वारा चाहे जितनी मान्यता प्राप्त हुई हो, है वह हिंसा-शक्ति ही। जिस हद तक मनुष्य के अन्तस पर उसका संचालन चलता है, उस हद तक मानव-हृदय पर उसकी प्रतिक्रिया होती रहती है। हिंसा की प्रतिक्रिया प्रति-हिंसा है। अतः शासन के

अस्तित्व के कारण, अदृश्य रूप में ही सही, मनुष्य के अन्दर निरन्तर हिंसा-प्रतिहिंसा का घात-प्रतिघात चलता रहता है। फलस्वरूप मानव-संस्कार में हिंसा बद्धमूल हो जाती है। फिर यह देखा जाता है कि बुद्धि और संस्कार में प्रायः संस्कार की ही जीत होती है। अतः बुद्धि द्वारा मनुष्य चाहे जितनी हिंसा-मुक्ति चाहता रहे, अगर संस्कारों मे हिसा भरी रहेगी, तो संस्कार बुद्धि पर विजय पाते रहेंगे और आज दुनिया में शांति की खोज में युद्ध की जो तैयारी चल रही है, वह अनंत काल तक चलती ही रहेगी।

शोषण के फलस्वरूप मनुष्य के अन्दर किस प्रकार निरन्तर हिंसा का घात-प्रतिघात चलता रहता है, यह आज की दुनिया में इतना स्पष्ट रूप से प्रकट है कि उसके लिए अलग से विवेचन की आवश्यकता नहीं है। लेकिन समाज की किस परिस्थिति के कारण शोषण चल रहा है, उस पर विचार करना आवश्यक है। दुनिया में जो उत्कट वर्ग-विषमता चल रही है, वही शोषण का मुख्य कारण है। यही कारण है कि आज का जमाना पुकार-पुकारकर श्रेणीहीन समाज की माँग कर रहा है। देश में जितनी पार्टियाँ हैं, उनमें और बातों के लिए चाहे जितने मतभेद हों, पर वे सब एक स्वर से श्रेणीहीन समाज की स्थापना के उद्देश्य को जनता के सामने रखती रहती हैं।

शोषण व शासन का गठबन्धन

अतएव अहिंसक समाज में अहिंसा की प्राप्ति के लिए एक शासन-मुक्त तथा श्रेणीहीन समाज कायम करने की आवश्यकता है। अब प्रश्न यह है कि यह सब हो कैसे? ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि दुनिया में शासन की आवश्यकता रह जाय और तब भी संसार शासन-मुक्त हो जाय। दुनिया में आज शासन का दायरा दिन-प्रतिदिन जो बढ़ता ही जा रहा है, इसका स्पष्ट कारण यह है कि मनुष्य शासन की आवश्यकताओं की नयी-नयी सृष्टि करता जा रहा है। आखिर इंसान को किस बात की जरूरत पड़ती है? अगर इसकी सूची का गहराई से विश्लेषण किया जाय, तो मालूम होगा कि उसके लिए मुख्य आवश्यकता जिन्दा रहने के साधनों की है अर्थात् आर्थिक आवश्यकता ही

मनुष्य की प्रधान आवश्यकता है। यही कारण है कि मानव-समाज का सामाजिक तथा राजनीतिक ढाँचा आर्थिक ढाँचे पर निर्भर रहता है। आज शासन, जो क्रमशः सर्वाधिकारी होता जा रहा है, उसका खास कारण यह है कि मनुष्य ने अपनी आर्थिक जिन्दगी को पूँजी के कब्जे में डालकर अपने को ही शासन द्वारा गिरफ्तार करा लिया है। पूँजी जैसे-जैसे केन्द्रित होती जाती है, वैसे-वैसे उसपर राज्य का कब्जा बढ़ाना ही पड़ता है।

अतः हमें यदि अहिंसक समाज की स्थापना के लिए सामाजिक तथा राजनीतिक क्रांति द्वारा शासन-मुक्त तथा श्रेणीहीन समाज कायम करना है, तो उसकी शुरुआत होगी, एक आर्थिक क्रान्ति करके मनुष्य की जिन्दगी को पूँजी-निरपेक्ष बनाने से। सौभाग्य से विनोबाजी ने भूमिदान-यज्ञ आंदोलन द्वारा हमारे सामने इसका एक महान् और सक्रिय अवसर उपस्थित किया है। आज सबको इस क्रांति को आगे बढ़ाना होगा।

पूछा जा सकता है कि नयी तालीम के साथ आर्थिक क्रांति का क्या संपर्क है? आज बहुत से लोग शायद ऐसा ही सोचते हैं। लेकिन नयी तालीम का उद्देश्य नव-समाज-निर्माण है। पुराना समाज ज्यों का त्यों बना रहे और उसके ऊपर एक नया समाज कायम हो, यह हो नहीं सकता। यही कारण है कि मैंने पहले क्रांति की ही बात की। क्या यह संभव हो सकता है कि मनुष्य आज जैसा है वैसा ही, यानी प्रतियोगिता-युक्त, स्थिर-स्वार्थ-प्रवृत्त तथा हिंसा को माननेवाला रह जाय और समाज शासन-मुक्त भी हो जाय? गांधीजी की शासन-हीन या राज्य-हीन समाज की कल्पना कोई नयी बात नहीं है। यूरोप में इसकी चेष्टा पहले भी हुई थी। लेकिन उन्होंने मानव-निर्माण की परिकल्पना के बिना ही राज्य को समाप्त करने की बात सोची थी। फलतः उस दिशा में चेष्टा के नतीजे अव्यवस्था तथा उच्छृङ्खलता के रूप से निकले और आज अराजकता शब्द का मतलब ही उच्छृङ्खलता माना जाने लगा है।

नवमानवरूपी शिव

अतः जहाँ हमको एक प्रचंड जनक्रांति द्वारा मौजूदा राजनीतिक आर्थिक

तथा सामाजिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन करना है, वहाँ उस बदले हुए जमाने के लिए नये मानव का भी निर्माण करना होगा। जनक्रांति के गंगावतरण के साथ-साथ उसे धारण करने के लिए अगर नवमानवरूपी शिव की प्रतिष्ठा नहीं होती है, तो क्रांति का अवतरण तो होगा, लेकिन प्रतिक्रांति के पाताल में उसका तिरोधान हो जायगा। गांधीजी की सूक्ष्म दृष्टि ने इस तथ्य को समझ लिया था। यही कारण है कि उन्होंने क्रांति के साथ-साथ नयी तालीम का संदेश सुनाया।

अतः स्पष्ट है कि नयी तालीम कोई स्वतंत्र कार्यक्रम नहीं है और न यह केवल शिक्षण-कला है। वह तो नयी क्रांति का वाहन है। देव-वाहन अपने देवता को पीठ पर रखकर ही समाज के आदर के साथ आगे बढ़ सकता है। शिव के वाहन के रूप में नन्दी को पूजा मिल जाती है, लेकिन वही नन्दी शिव के बिना साँड़ के रूप में लोगों के खेतों में भटकता है और जनता द्वारा उसे निरंतर दुत्कार मिलती है। वह उल्लू, जो हेय माना जाता है, लक्ष्मी के वाहन के रूप में देव-मन्दिर में स्थान प्राप्त करके पूजा पा लेता है। अतः आज अगर समाज में नयी तालीम का आदर क्षीण हो रहा है, तो इसका स्पष्ट कारण यही है कि वह देवता को पीठ पर लिये बिना ही चलने की चेष्टा में है।

अतएव वास्तव में अगर नयी तालीम की सेवा करनी है, तो हमें एक बार गहराई से आत्मनिरीक्षण करना होगा कि हम कहाँ हैं? क्या हमारी नयी तालीम आज की युग-क्रांति के वाहन के रूप में चल रही है? क्या हमारे कार्यक्रम के सहज नतीजे से क्रांति प्रज्वलित हो रही है?

मूल्य बदले

भारत सरकार तथा विभिन्न राज्य-सरकारों ने नयी तालीम को मान्यता दी है। वे उसे चला भी रही हैं। लेकिन दुर्भाग्य से उसके पीछे जो जीवन-दर्शन और समाज-क्रान्ति छिपी हुई है, उसे वे नहीं मानती हैं। जब तक नयी तालीम का अपरिग्रही दर्शन, विकेन्द्रित स्वावलम्बी अर्थनीति तथा श्रेणीहीन समाज-व्यवस्था मान्य नहीं की जाती, तबतक नयी तालीम का संगठन तथा संचालन

विडम्बना मात्र है। तब तक इस तालीम के प्रति किसी का आकर्पण नहीं हो सकता। वस्तुतः मौजूदा नीति को कायम रखते हुए सरकार द्वारा नयी तालीम के प्रसार की चेष्टा राष्ट्रशक्ति तथा सम्पत्ति का अपव्यय मात्र है। एक तरफ तो हमारी मान्यता यह रही कि राष्ट्र के नेता, प्रतिनिधि, राजदूत आदि लोग शान और शौकत से नहीं रहेंगे, तो मुल्क की शान में धक्का लग जायगा और दूसरी ओर हम अपने बच्चों को सादगी और स्वावलम्बीशील जीवन की चाहे जितनी महिमा सुनाते रहें, तो भी उसके प्रति किसी भी बच्चे के दिल में आदर पैदा न होगा। आखिर प्रतिष्ठा की आकांक्षा सबको है। हमारी प्रतिष्ठा की मान्यताएँ जैसी होंगी, देश की आबाल-वृद्ध जनता की तृष्णा तथा आकांक्षा भी वैसी ही होगी। जब देश के नेतृत्व ने लँगोटी की प्रतिष्ठा को मान्य किया था, तब बड़े-बड़े राजाओं की तृष्णा भी उसीकी प्राप्ति में थी। तो सोचना यही है कि आज बुनियादी शिक्षा द्वारा जिस जीवन-दर्शन का प्रचार हम करना चाहते हैं, उसके प्रति जनता का आकर्पण कैसे होगा ?

मुकाम अलग, राह अलग

बुनियादी तालीम का एक मुख्य माध्यम दस्तकारी है। लेकिन देश की अर्थनीति का आधार दस्तकारी न होकर केन्द्रित उद्योग है। ऐसी हालत में हम देश के बच्चों को चौदह-पन्द्रह साल तक दस्तकारी का अभ्यास किस उद्देश्य से कराना चाहते हैं ? अर्थनीति का केन्द्रीकरण करके दस्तकारी के माध्यम वाली शिक्षा-नीति नहीं चल सकती, चलाना अनुचित भी है। ऐसा करने का मतलब यह होता है कि हम अपने बच्चे को बुलाकर कहते हैं कि "देखो बेटा, खूब दिल लगाकर दस्तकारी का अभ्यास करो। लेकिन एक बात समझ लेना कि चौदह-पन्द्रह साल तक लगातार एकाग्रता से अभ्यास करने के बाद जिस हुनर की प्राप्ति होगी, उसका समाज में कोई स्थान नहीं।" इस अत्यन्त निष्ठुर आश्वासन पर किस बच्चे को बुनियादी शाला में तालीम पाने की दिलचस्पी होगी और कौन अभिभावक अपने बच्चे को ऐसी शाला में भेजना चाहेगा ? जब शिक्षक भी समझता है कि ऐसी बेकार वस्तु की प्राप्ति

में हम अपने दिल, दिमाग और जिस्म का व्यय क्यों करें, तो आप समझ सकते हैं कि आज देश भर में नयी तालीम के प्रति उपेक्षा क्यों पैदा हो रही है ?

कुछ लोग यह कह सकते हैं कि हमें इस क्रांति से विशेष दिलचस्पी नहीं है, हम तो शिक्षण-कला की दृष्टि से ही इसे मानते हैं। शायद कुछ शिक्षा-शास्त्री ऐसा मानते भी हैं। परन्तु शिक्षणकला की दृष्टि से आप आखिर इसलिए न अपनाते हैं कि वास्तविकता के माध्यम के मामले में यह पद्धति पूर्ण है ! लेकिन हुआ यह कि वास्तविकता की खोज में हमने उस वास्तविकता को ही खो दिया है। जब माध्यम के रूप में दस्तकारी को अपनाते हैं, तब यह भूल जाते हैं कि दस्तकारी द्वारा उत्पादन-पद्धति आज एक अवास्तविक पद्धति है, क्योंकि राष्ट्र की ओर से आज इसकी मान्यता नहीं है।

अतएव क्रान्ति के बिना ही आज के वास्तविक जीवन के माध्यम से अगर शिक्षा-पद्धति चलानी है, तो चरखा छोड़कर मिल-उद्योगशालाओं को अपनाना होगा। ऐसा करने में एक दूसरी दिक्कत का सामना भी करना पड़ेगा। मिल-उद्योग की प्रक्रियाओं में विभिन्नताएँ नहीं हैं। उसमे काम करनेवाले एक ही प्रक्रिया को आजीवन यन्त्रवत् चलाते रहते हैं। उसमें न सृष्टि का आनन्द है और न कार्यक्रम की विचित्रता। इस कारण अगर शिक्षा का मतलब केवल जड़वत् जानकारी प्राप्त करना है, तो भी इस प्रक्रिया से वह सध नहीं सकेगी। इस प्रकार आज हम एक विकट परिस्थिति के बीच खड़े हैं। दस्तकारी के लिए दिलचस्पी नहीं और मिलकारी में शिक्षण का अवसर नहीं। फलस्वरूप आपकी सम्पूर्ण चेष्टा निष्फल हो रही है और सामान्य शिक्षणकला की दृष्टि से भी इसको यश नहीं मिल रहा है।

आत्मनिरीक्षण की वेला

अब गैर-सरकारी प्रयत्नों की बात लीजिए। अगर हम गहराई से अध्ययन करें, तो यह बात भी स्पष्ट हो जायगी कि हम जो रचनात्मक कार्यकर्ता गैरसर-कारी तौर पर काम कर रहे हैं, वह काम भी जनता को आकृष्ट नहीं कर पा रहा

है। इसका भी यही कारण है कि इसे हम यन्त्रवत् स्वतन्त्र कार्यक्रम के रूप में चलाना चाहते हैं। हम भी क्रान्ति-देवी को पीठ पर लेकर चल नहीं रहे हैं। हम गम्भीरतापूर्वक इस बात का विचार नहीं करते हैं कि नयी तालीम के जरिये हमें शोषण-हीन अर्थात् श्रेणीहीन समाज की स्थापना करनी है। यदि समाज में कुछ लोग उपदेश देकर खायें, कुछ व्यवस्था चलाकर गुजारा करें, कुछ लोग केवल माल वितरण करते रहें और कुछ के जिम्मे शरीरश्रम के द्वारा उत्पादन करना मात्र ही रहे, तो क्या समाज श्रेणीहीन हो जायगा ? आप श्रम-विभाजन की बात करेंगे। क्या वास्तविक श्रेणीहीन समाज का स्वरूप यही रहेगा कि कुछ लोग केवल शरीरश्रम करें और कुछ लोग दिमागीश्रम करें ? क्या प्रकृति ने मनुष्य को इसी तरह से विभाजित किया है ? उसने तो प्रत्येक व्यक्ति को मस्तिष्क और शरीर, दोनों दिये हैं, ताकि वह दोनों का पूर्ण विकास करे और अपनी संयुक्त शक्ति लगाकर शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समाज की सेवा करे। मनुष्य ने प्रकृति के इस नियम का उल्लंघन किया। उसने अपने को दो हिस्सों में बाँट दिया। एक को हेड्स् कहा और दूसरे को हैंड्स्। विनोबाजी कहते हैं कि इस प्रकार मनुष्य राहु और केतु के रूप में दो टुकड़ों में विभक्त हो गया। मानव-समाज का सनातन अनुभव यह है कि प्रकृति के नियम का उल्लंघन करने पर वह चुप नहीं बैठती, वह उसका प्रतिशोध लेती है। अतएव आज समाज में जो उत्कट वर्गविषमता की सृष्टि हुई है, उसीके कारण प्रकृति अपना प्रतिशोध ले रही है और मानव-समाज त्राहिमाम कर रहा है।

कार्य-विभाजन और क्षमता

प्रायः लोग कहते हैं कि अगर हरएक आदमी शरीरश्रम और बौद्धिकश्रम, दोनों करेगा, तो समाज में योग्यता तथा कर्मकुशलता का ह्रास होगा और दुनिया उन्नति नहीं कर सकेगी। पर ऐसा कहकर वे क्षमता की वेदी पर समता का बलिदान करना चाहते हैं। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि वे ही विज्ञान के नाम से जन्म के आधार पर प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का भी विरोध करते हैं।

हीन समाज टिक नहीं सकता। आखिर राज्य-निरपेक्ष-समाज का मतलब यह तो नहीं है कि समाज में कोई व्यस्था ही न रहे! व्यवस्था तो रहेगी और इंतजाम भी माकूल रहेगा। सवाल यह है कि वह कैसे और किसके द्वारा चलेगा?

मनुष्य की प्रकृति में संस्कृति और विकृति, दोनों का अंश है। आप उसको चाहे जितनी सांस्कृतिक शिक्षा तथा दीक्षा देकर छोड़ दें, धीरे-धीरे विकृति उसके जीवन में घर करती जायगी। जैसे-जैसे समाज में विकृति का प्रकोप होगा, वैसे-वैसे संचालन, नियन्त्रण तथा शासन की आवश्यकता बढ़ती जायगी। अतएव समाज-जीवन के अंग-प्रत्यंग के साथ संस्कृति तथा शिक्षा का कार्य-क्रम जुड़ रहना आवश्यक है। आप जिस घर में रहते हैं, उसमें धूल जमने पर झाड़ू देकर उसे साफ करते हैं। अगर घर को एक बार अच्छी तरह से साफ करके छोड़ दें, तो कुछ दिनों में वह इतना गंदा हो जायगा कि वह रहने लायक भी नहीं रहेगा। इसीलिए आप अपने घरों को प्रतिदिन साफ करते हैं। उसी प्रकर अगर शिक्षा का कार्यक्रम अलग से चलाकर, मनुष्य को एक बार अच्छी तरह से शिक्षित बनाकर समाज में छोड़ दिया जाय, तो उसमें धीरे-धीरे विकृति का प्रवेश होता रहेगा। इसलिए मनुष्य-समाज के जितने कार्यक्रम है, सबको शिक्षा के माध्यम में परिणत करना होगा। यही कारण है कि गांधीजी ने कहा था कि नयी तालीम का क्षेत्र जन्म से मृत्यु तक है।

मनुष्य-समाज का सारा कार्यक्रम तीन विभागों में बँटा हुआ है: (१) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन, (२) समाज की व्यवस्था तथा (३) प्रकृति के साधनों की खोज। इसलिए नयी तालीम के तीनों माध्यम यानी उत्पादन की प्रक्रिया तथा सामाजिक और प्राकृतिक वातावरण समान रूप से आवश्यक है। अतः इसके अभ्यासक्रम में तीनों का महत्त्वपूर्ण समावेश होना चाहिए।

विकेन्द्रित स्वावलम्बी समाज में औद्योगिक प्रक्रियाएँ तीन प्रकार की होंगी: गृह-उद्योग, ग्राम-उद्योग तथा राष्ट्र-उद्योग। हमारे अभ्यासक्रम में तीनों उद्योगों का वर्गीकरण करना होगा। वह कुछ इस प्रकार का हो सकता

है : बुनियादी-वर्ग में गृह-उद्योग, उत्तर बुनियादी के लिए ग्रामोद्योग और उत्तम बुनियादी के लिए राष्ट्र-उद्योग। कृषि का क्षेत्र इतना व्यापक है कि वह तीनों वर्गों में चल सकेगा।

राष्ट्रोद्योग राज्य के नहीं !

मैं जब विभिन्न प्रान्तों में घूमकर विकेन्द्रित स्वावलम्बी समाज की बात करता हूँ, तो प्रायः लोग यह प्रश्न करते हैं कि आखिर कुछ उद्योग तो केन्द्रित रहेंगे ही। अगर राज्य का विघटन किया जाय, तो उन्हें कौन चलायेगा ? लोगों के मन में ऐसा प्रश्न इसलिए उठता है कि वे नयी तालीम को अच्छी तरह समझ नहीं सके हैं। **राष्ट्र-उद्योगों की जिम्मेवारी न किसी पूँजीपति को लेने की जरूरत है और न सरकार को। उसकी पूरी जिम्मेवारी नयी तालीम की होगी।** सर्वोदय-समाज में टाटानगर, चित्तरंजन, डालमिया नगर, बर्नपुर आदि औद्योगिक केन्द्र न रहकर वे विभिन्न विषयों के उत्तम बुनियादी तालीम के केन्द्र बन जायँगे। उस वक्त वहाँ इंजीनियर और मजदूर नहीं रहेंगे, बल्कि शिक्षक और छात्र रहेंगे। वे ही सब मिलकर उत्पादक-श्रम करेंगे तथा आपस में उसकी व्यवस्था भी चलायँगे। उसी तरह समाज की सारी व्यवस्था नयी तालीम के माध्यम से होगी। जिस तरह उद्योग के क्षेत्र में तीन तरह के उद्योगों की परिकल्पना है, उसी तरह समाज-व्यवस्था में भी कुछ स्तर रहेंगे। मौलिक स्तर तो ग्राम-राज्य ही होगा, लेकिन कुछ अनिवार्य आवश्यकता पर प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय व्यवस्था रहेगी। शिक्षा के माध्यम के रूप में सामाजिक वातावरण का इस्तेमाल इन्हीं व्यवस्थाओं के कार्यक्रम का होगा। यह कैसे होगा, उसका कुछ ब्योरा हम समझ लें।

तालीम का तरीका

पुरानी तालीम में घर पर याद करने के लिए कुछ सबक (Home Lessons) दिये जाते हैं। नयी तालीम में भी घर के लिए काम देना होगा। बुनियादी वर्ग में आठ दर्जे होते हैं। साल के बावन सप्ताह में से अगर चालीस सप्ताह भी काम के माने जायँ, तो आठ साल में तीन सौ बीस सप्ताह होते हैं। ग्राम-समाज की समस्याओं का समाधान तथा व्यवस्था का काम बुनियादी शाला

के छात्रों को बताना ही होगा। छोटे दर्जे के बच्चों को हल्के-हल्के कामों से शुरू करके आठवें दर्जे तक काफी जटिल समस्या तथा व्यवस्था का काम दिया जा सकता है। जैसे, पहले ग्रेड के बच्चों से यह कहा जा सकता है कि "तुम्हारे घर में कितने लोग हैं, उनकी उम्र क्या है, आपस के सम्बन्ध कैसे हैं, मकान कितना बड़ा है, उसके कितने कमरे हैं, आदि सारी जानकारी प्राप्त कर बताओ।" इस प्रकार से दूसरी भी छोटी-छोटी बातें मालूम करके वे आवें, ऐसा अभ्यासक्रम बनाना होगा। फिर उसी माध्यम से उनकी विभिन्न विषयों की जानकारी बढ़ानी होगी। इसी तरह ऊपर के दर्जे के बच्चों को गाँव की आबादी, गाँव में कितनी जमीन है, पैदावार कितनी है, अगर पैदावार कम है तो क्यों, इत्यादि बातों की जानकारी हासिल करने का काम दिया जा सकता है। वे भूमि समस्याओं का अध्ययन करके शाला में आ सकते हैं। गाँवों के आपसी झगड़े आदि सामाजिक समस्याओं का अध्ययन तथा समाधान का काम भी वे कर सकते हैं और इसी प्रकार उन्हें दूसरे गाँवों की व्यवस्थाओं का भी काम दिया जा सकता है। इस तरह गाँव की समस्या तथा व्यवस्था के काम को विभिन्न वर्गों तथा छात्रों की योग्यता के अनुसार तीन सौ सप्ताह के लिए तीन सौ बीस अभ्यासक्रम बनाये जा सकते हैं। ग्रामसमाज के पंचायत के सदस्य उस समय ग्राम-संचालक न बनकर ग्राम-व्यवस्था सम्बन्धी शिक्षण के शिक्षक होंगे। गाँवों की जिन समस्याओं का समाधान तथा व्यवस्थाओं के काम बुनियादी दर्जे के बच्चों की शक्ति के बाहर होंगे, उन्हें उत्तर-बुनियादी तालीम के माध्यम के रूप में इस्तेमाल करना होगा। गाँव के स्तर से ऊपरवाली व्यवस्थाओं में से भी जहाँ तक संभव होगा, उन्हें उत्तर-बुनियादी तथा उत्तम-बुनियादी तालीम के माध्यम के रूप में चलाना होगा।

विज्ञान का अर्थ

प्रकृति के साधनों की खोज का काम भी तालीम के माध्यम के रूप में होगा। बहुत-से शिक्षित लोग कहते हैं कि विकेन्द्रित समाज में विज्ञान की कोई हैसियत नहीं रहेगी। मुझे भय है कि उनको विज्ञान का अर्थ नहीं मालूम है। विज्ञान का अर्थ बड़ी-बड़ी मशीनें नहीं है। विज्ञान का अर्थ है, प्रकृति के

नियमों की जानकारी। अणु-शक्ति की जानकारी विज्ञान है, अैटम बम नहीं! समाज का उद्देश्य जिस ओर होगा, विज्ञान का इस्तेमाल भी उसी दिशा में होगा। आज दुनिया का उद्देश्य राज्य-वादी संचालन तथा पूँजीवादी उत्पादन का संगठन है। उसके नतीजों से जो युद्ध-विग्रह अनिवार्य हो जाता है, उसके लिए आज विज्ञान ध्वंसकारी शस्त्रों के बनाने में लगा हुआ है। जब समाज का ध्येय 'विकेन्द्रित स्वावलम्बी व्यवस्था' तथा 'श्रमवादी उत्पादन का संगठन' होगा, तो वही विज्ञान विकेन्द्रित उत्पादन-शक्ति के आविष्कार में तथा उसके साधनों की खोज में जुट जायगा। जब विकेन्द्रित उत्पादन-शक्ति की आवश्यकता होगी, तो जिस तरह आज सामान्य व्यक्ति द्वारा सूर्य-किरण को केन्द्रित करके खाना बनाने के कुकर का आविष्कार किया जाता है, उसी तरह बड़े वैज्ञानिकों द्वारा उसी सूर्य-किरण को अधिक केन्द्रित करके प्रत्येक आँगन में विद्युत्-शक्ति का उत्पादन करना क्या असम्भव होगा? मनुष्य इस प्रकार के आविष्कार में लगा रहे, तो क्या कहेंगे कि वह विज्ञान को छोड़ रहा है? बल्कि इस दिशा की सिद्धि के लिए तो अधिक सूक्ष्म वैज्ञानिक चिन्तन की आवश्यकता होगी।

समाज-जीवन का ताना-बाना

अतः मनुष्य-समाज के सारे कार्यक्रम यानी उत्पादन-कार्य, समाज-व्यवस्था तथा प्राकृतिक साधनों की खोज नयी तालीम के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार समाज के सारे कार्यक्रमों के ताने में शिक्षण तथा संस्कृत के बाने डालकर नव-समाज-निर्माण करना होगा। ऐसा करने में मनुष्य के अन्दर निरन्तर पैदा होनेवाली विकृति की सफाई, साथ-साथ के सांस्कृतिक कार्यक्रमों से होती रहेगी और शासन की आवश्यकताओं की सम्भावना जाती रहेगी।

चिन्मय स्वरूप को परखें

सर्वोदय-समाज का अर्थ है, शिक्षामय समाज। नयी तालीम के इस चिन्मय-रूप का दर्शन हमें करना होगा। बुनियादी शालारूपी मृण्मय-मूर्ति की पूजा से सिद्धि नहीं मिल सकेगी, बल्कि उस मूर्ति के पीछे जो चिन्मय स्वरूप है, उसकी उपासना करनी होगी।

० ० ०

परिशिष्ट—२

एक घंटे की पाठशाला

[विनोबा जी के साथ कुछ प्रश्नोत्तर]

१. प्रश्न :—आपने कहा है कि गॉव मे प्रतिदिन चलनेवाली एक घटे की पाठशाला पर्याप्त है। क्या इतने ही समय मे बच्चो को पूरा ज्ञान दिया जा सकता है? जिस तरह शारीरिक दृष्टि से गॉव के लोग अधभूखे (under-fed) है, क्या उसी तरह एक घटे की पढाई से वे मानसिक दृष्टि से भी अधभूखे नही रह जायँगे?

विनोबा :—नित्य एक घटे का बौद्धिक वर्ग बच्चो के शिक्षण के लिए पर्याप्त है। शिक्षक खुद गॉव के दूसरे लोगो की तरह अपने उद्योग से अपना भरण पोषण करनेवाला होगा; अतः बाकी के समय मे भी उसका और गॉव-वालो का जीवित सम्पर्क रहेगा और बच्चे उससे कुछ न-कुछ सीखते ही रहेगे। पर इसे छोड़ दे, तब भी एक घंटे का नियमित 'पाठ' बच्चो के लिए काफी है। मैने तो एक सिद्धात ही बनाया है कि जितना समय खाने मे, याने शरीर को भोजन पहुॅचाने मे लगता है, उतना ही समय शिक्षा के लिए, यानी बुद्धि और मन को खुराक पहुॅचाने के लिए काफी है। बाकी समय तो खाये हुए को पचाने के काम मे लगता है। दिन भर मे हम तीन बार खाये, तो भी भोजन करने मे कुल मिलाकर हमे डेढ घटे से ज्यादा नही लगता। तो बुद्धि को भोजन देने मे भी इससे ज्यादा समय नही लगना चाहिए। घटे भर मे अच्छी तरह पढाया जाय, तो इतने समय मे बच्चो को इतना ज्ञान दिया जा सकता है कि जिसे पचाने के लिए, यानी जिसका मनन और अभ्यास करने के लिए, उन्हे काफी

समय चाहिए। हमें यह समझ लेना चाहिए कि शिक्षा का मतलब जानकारी देना नहीं है, जैसा कि अक्सर आजकल माना जाता है। शिक्षा का मतलब तो है, बच्चे में ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति पैदा करना। यह हो जाने पर, यानी ज्ञान-पिपासा जाग्रत हो जाने पर बाकी का काम सहज है और वह शिक्षार्थी स्वयं कर लेगा। अतः एक घंटे का समय इस काम के लिए काफी समझना चाहिए।

फिर हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि आज-कल जो पाँच घंटे चलने वाले स्कूल हैं, वहाँ साल में पाँच महीने तो छुट्टी रहती है! इसलिए पाँच के ढाई घंटे ही मानने चाहिए। फिर, बीच-बीच में छुट्टी हो जाने से बच्चे को ग्रहण करने में समय भी ज्यादा लगता है। हमारी 'पाठशाला' तो नित्य एक घंटे चलेगी। उसके शिक्षक भी आज की प्रायमरी पाठशालाओं के अध्यापकों की अपेक्षा ज्यादा योग्यतावाले होंगे। आज की शिक्षा-प्रणाली में तो उलटा चलता है। प्रायमरी स्कूलों में, जहाँ अच्छे-से-अच्छे शिक्षक चाहिए, वहाँ कम से-कम योग्यतावाले रखे जाते हैं। अतः कुल मिलाकर हमारा एक घंटे का शिक्षण कम नहीं रहेगा।

२. **प्रश्नः**—आपने जो कहा, वह सामान्य शिक्षण के लिए तो ठीक है; पर क्या एक घंटे का शिक्षण 'उच्च शिक्षा' की तैयारी के लिए भी काफी होगा ?

विनोबाः—मैंने तो बच्चों को सीधे उपनिषद् ही सिखाया है। इस तरह नित्य एक घण्टे के पाठ से ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान दिया जा सकता है। पर मैंने एक घंटे की पाठशाला की जो कल्पना रखी है, वह तो बुनियादी या प्राथमिक शिक्षण के लिए है। उसकी तुलना आज की चार या पाँच घंटे की प्रायमरी शिक्षा से ही की जानी चाहिए। हमें देखना यह है कि जितनी तैयारी आज के स्कूल के द्वारा बच्चों की होती है, उतनी हमारी एक घंटे की पाठशाला से होती है या नहीं। इसके अलावा मैंने तो कहा ही है कि गाँव-गाँव में 'यूनिवर्सिटी' होनी चाहिए। एक घंटे की पाठशाला तो सामान्य व्यापक शिक्षण के लिए है। पर गाँवों में इतने से ही हमारा संतोष नहीं होगा। अगर हर गाँव में जन्म से

लोग रहते हैं और सारे काम होते हैं, तो हर गाँव में पूरे शिक्षण की व्यवस्था होनी ही चाहिए। साधारण शिक्षण गाँव में, उससे ऊँचा जिले में, उससे ऊँचा बड़े शहर में और उससे ऊँचा आगे और कहीं भी; इस तरह की योजना ही गलत है। जब जन्म से मृत्यु तक के सारे काम गाँव-गाँव में चलते हैं, तो सब प्रकार के शिक्षण के साधन भी वहाँ मौजूद ही हैं। इसलिए मैं कहता हूँ और मेरा मानना है कि गाँव-गाँव में 'विश्वविद्यालय' के जैसी ऊँची शिक्षा का प्रबन्ध हो सकता है और वह होना चाहिए।

३. प्रश्नः—आप जैसा कहते हैं, उसके अनुसार ऊँचे से ऊँचे तत्त्व-ज्ञान या समाजशास्त्र के ज्ञान के लिए तो हर गाँव में व्यवस्था हो सकेगी, पर जिसे हम विज्ञान कहते हैं, उसका, यानी उच्च टेकनिकल शिक्षण का तथा खोज का प्रबन्ध गाँव-गाँव में कैसे संभव है? हर गाँव में उसके लिए साधन कहाँ से आयँगे?

विनोबाः—जब मैं कहता हूँ कि हर गाँव में यूनिवर्सिटी होनी चाहिए, तो मेरा मतलब यह नहीं है कि हर गाँव में हर चीज का पूरा ज्ञान प्राप्त करने की व्यवस्था होगी। आज यूनिवर्सिटियों में भी यह कहाँ संभव है? हर यूनिवर्सिटी में, हर 'फॅकल्टी', यानी हर विषय के उच्च शिक्षण और खोज की व्यवस्था तो नहीं होती। दो जगह में अन्य व्यवस्था समान हो, तब भी शिक्षार्थी उसी जगह जाते हैं, जहाँ उस विषय का गुरु ज्यादा योग्य होता है। इसी तरह गाँवों की यूनिवर्सिटी में होगा। सामान्य तौर पर ऊँचे से ऊँचे शिक्षण की व्यवस्था हर जगह रहेगी, पर जहाँ जंगल अधिक हैं, वहीं 'जंगल-शास्त्र' या 'लकड़ी-शास्त्र' या 'औषधि-विज्ञान' की 'फॅकल्टी' रहेगी। वह सब जगह नहीं हो सकेगी। यह भी समझ लेना चाहिए कि बहुत-सा उच्च ज्ञान भी सब-का-सब भौतिक साधनों पर अवलम्बित नहीं रहता। उदाहरण के लिए, ज्योतिष-शास्त्र के ज्ञान के लिए रोज दूरबीन से देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उससे कभी-कभी देख लेना काफी होता है। तो अगर दूरबीन हर गाँव में नहीं रखी जा सकती, तब भी ज्योतिष-शास्त्र का अध्ययन गाँव-गाँव में हो

सकता है। दूरबीन कहीं एक केन्द्रीय स्थान पर रखी जा सकती है और जरूरत पड़ने पर वहाँ जाकर उसका उपयोग किया जा सकता है।

खोज (Research) के लिए तीन चीजें आवश्यक हैं : दार्शनिक वृत्ति, हाथों से काम करने का अभ्यास और कुशलता तथा भौतिक साधन। गाँवों में दार्शनिक वृत्ति निर्माण होने के मार्ग में कोई रुकावट नहीं है, यह तो हमने देखा। काम करने की कुशलता के लिए भी वहाँ पर्याप्त अवकाश है ही, क्योंकि वहाँ हर काम लोग स्वयं हाथों से करते हैं। भौतिक साधन भी अधिकांश वहाँ उपलब्ध हैं, क्योंकि सारी सृष्टि वहाँ खुली पड़ी है। जो साधन सब जगह उपलब्ध नहीं हो सकते हैं, उनकी चर्चा भी हमने ऊपर की है।

इस प्रकार गाँव-गाँव में सम्पूर्ण, यानी ऊँची-से-ऊँची शिक्षा और खोज का अवकाश है और हर गाँव में उसका प्रबन्ध होना चाहिए। इसकी शुरुआत और तैयारी गाँव-गाँव में 'एक घंटे की पाठशाला' से होनी चाहिए। आज तो ज्ञान सीमित है। ज्ञान को व्यापक बनाना हो और सबके लिए उसके दरवाजे खोलने हों, तो इसी प्रकार यह सम्भव होगा।

नयी तालीम साहित्य

पुस्तक का नाम	लेखक	मूल्य रु. आ.	पोस्टेज आ. पा.
सच्ची शिक्षा	गांधीजी (नवजीवन)	२—८	५—०
शिक्षा की समस्या	,, ,,	३—०	४—०
बुनियादी शिक्षा	,, ,,	१—८	२—०
विद्यार्थियों से	,, ,,	४—०	६—०
शिक्षा में अहिंसक क्रान्ति	,,	१—८	२—०
नयी तालीम	धीरेनभाई	०—८	१—६
शिक्षण विचार	विनोबा (प्रेस में)	—	—
प्रौढ़ शिक्षा का उद्देश्य	शांता बहन और मार्जरी साइक्स	०–१२	२—०
बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त		१–१०	२—०
जीवन-शिक्षा का उद्देश्य	शांता बहन	१–१४	२—०
ओटना, तुनना व धुनना	सत्यन्	०–१२	१—०
ताँत बनाना	,,	०–१२	१—०
मूल उद्योग : कातना	विनोबा	०–१२	१—०
खेती शिक्षा	भिसे और पटेल	१—८	१—६
तकली	कुन्दर दिवाण	२—०	२—०
कम्पोस्टवाली सण्डास		०—५	१—०
आठ साल का सम्पूर्ण शिक्षाक्रम		१—८	२—०
शिक्षकों की ट्रेनिंग का पाठ्यक्रम		१—०	२—०
पूर्व बुनियादी शिक्षकों की ट्रेनिंग का पाठ्यक्रम		०–१०	१—०
पूर्व बुनियादी समिति का पाठ्यक्रम का विवरण		०—४	१—०
बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा		१—८	२—०
जीवन और शिक्षण	विनोबा	२—०	२—०
पूर्व बुनियादी तालीम	शांता बहन	१—०	१—६

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, काशी